TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182469
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H 82/D98A Accession No. G.H.1033
Author द्विवेदी, प्रेमनन्दन
Title अस्थिदान 1951
This book should be returned on or before the date last marked below.

अस्थिदान

[एक अत्यन्त रोचक पौराणिक नाटक]

—लेखक—

श्री प्रेमनन्दन द्विवेदी "दुखित"

—प्रकाशक—

सन् १९५१ ई०

★

प्रकाशक :

ललित कला केन्द्र, कानपुर

मुद्रक :

'सुधा प्रेस', जनरलगंज, कानपुर

मूल्य :

अजिल्द २॥) : सजिल्द ३)

★

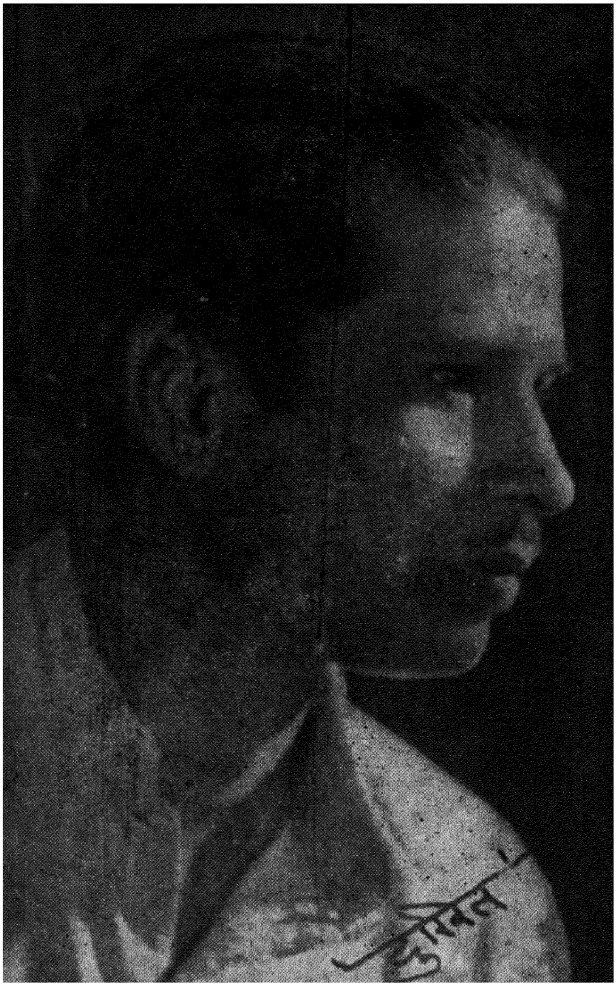

समर्पित

★

उस अमर दधीचि को। जिसे, मारने की चेष्टा में प्रत्येक बुद्धिवादी देवता रत है, किन्तु, जो आज भी अपनी अस्थियों से समाज की रक्षा कर रहा है तथा जो आज भी जाड़े में नंगा और गर्मी में भूखा सो रहता है।

—दुखित

★

शुभाशंसा

श्री प्रेमनन्दन द्विवेदी को मैं हिन्दी वाङ्मय के एक उदीयमान कवि के रूप में ही जानता था। उनकी रचनायें सुनने का अवसर मिला। उनके अदम्य उत्साह से मुझे आशा हुई थी कि भविष्य में ये हमारी भाषा के भाण्डार की श्री वृद्धि करेंगे। प्रस्तुत "अस्थिदान" रूपक साहित्य क्षेत्र में उनका प्रथम प्रयास और प्रथम प्रवेश है।

प्रेमनन्दन जी की भावुकता प्रभविष्णु है, वे साहित्यकारों तथा कलाकारों से घिरे रहते हैं। अकेले तो मैंने उन्हें देखा ही नहीं। उनकी शालीनता, सहृदयता तथा सरसता सभी को प्रभावित करती रहती है, इसी वातावरण में इस दृश्यकाव्य की रचना हुई है।

इस प्रकाशन से ही उन्हें सन्तोष नहीं। उनकी इच्छा है कि इसे अभिनीत करके जनता के सामने वे अपने मनोभावों को प्रकट करें।

इस दृश्यकाव्य को श्रव्यकाव्य की कसौटी पर कसना भूल होगी, श्रव्यकाव्य में जो अर्थ, गौरवपूर्ण संवाद, संगीत, चरित्र-चित्रण प्राप्त होता है, दृश्यकाव्य में उसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। फिर, विदग्ध पण्डितों के लिए लिखे गये तथा सर्वसाधारण के लिए लिखित साहित्य में भी आकाश पाताल का अन्तर रहता है। अतएव साहित्य महारथियों को यह आभास आकर्षण का साधन न बन सके, तो निराशा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

वस्तुतः यह तो ग्राम्य देवताओं के लिये एक भक्त की नैवेद्य है उन्हें यह मधुर तथा प्रिय लगा तो लेखक अपने को धन्य समझेगा। इस दृष्टि से यह नवोदित नाटककार अभिनन्दनीय होगा इतना निश्चित है

'अस्थिदान' को आद्यन्त पढ़ने का

मुझे अवसर मिला है। कहीं कहीं पर उत्कृष्ट काव्य की झलक और उत्कृष्ट सम्वाद भी पढ़ने को मिले हैं। जिससे मैं स्वयं आनन्दित हुआ हूं। मेरी इच्छा थी कि इसे परिमार्जित तथा प्राञ्जल करके ही वे प्रकाशित कराते इससे सभी का पर्याप्त अनुरञ्जन होता।

'अस्थिदान' पढ़ते समय स्वभावतः महर्षि दधीचि के उदात्त चरित्र पर मेरा ध्यान गया और उस युग के जीवन पर भी, जिसकी घटना इसमें चित्रित की गयी है। क्या यही महर्षि दधीचि का महान् चरित्र है, जिन पर हमें अभिमान है? प्रश्न स्वाभाविक है! इसका उत्तर लेखक की ओर से यही दिया जा सकता है कि यदि उसी चरित्र को अंकित करना था, तो इस नये पारायण की आवश्यकता ही क्या थी! 'दधीचि के माध्यम से आज के युग की समस्या को सुलझाना ही इस कृति का उद्देश्य है।'

★

इस पुण्य प्रयास में इसके साधक को कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय मैं पाठकों पर छोड़ता हूं।

'अस्थिदान' प्रेमनन्दन जी के रूपकों की स्वयं एक भूमिका है। वे प्रोत्साहन के पात्र हैं! भविष्य में, उत्साह को साधना के साथ गठबन्धन कर, यदि वे साहित्य सृजन करें, तो हमें परितोष होगा। मेरी शुभ-कामना उनके साथ है।

७-६-५१
बिन्दकी, यू० पी०

सोहनलाल द्विवेदी

अपनी बात

अपनों को धन्यवाद देकर अपनत्व की हँसी तो नहीं उड़ाना चाहता था, पर मानव स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि जब तक मनुष्य हृदय की भावनाओं को व्यक्त नहीं कर लेता, तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती। अत: मैं जिन मित्रों द्वारा 'मार मार कर हकीम' बनाया गया हूँ, इस बात को कैसे भूल जाऊं कि प्रस्तुत नाटक उन्हीं की प्रेरणा का फल है।

पिछले वर्ष नासिक कांग्रेस के अधिवेशन पर मेरे परम हितैषी श्री 'आहिद अली' साहब मुझे नासिक ले गये। बम्बई और पूना भी उनके साथ देखने का अवसर मिला और वहीं देखा, मानव-मानव का वह विशाल अन्तर जिसने देव और मनुज की सृष्टि की है। एक ओर गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, दूसरी ओर धूल और उसमें सने हुए जर्जर पीड़ित मानव ककाल। फिर देखा, प्रकृति का अछूता सौन्दर्य, जो मानव के चरण चिन्हों से मुक्त था। मेरे नाटककार को लुभाने के लिए इतना ही अलम् था। उस पर जब गुरुवर श्री शिशुपाल सिंह जी 'शिशु' का 'दधीचि' खण्ड काव्य लिखने का आदेश मिला तो मैं रुक न सका। लिखने बैठा खण्ड काव्य, लिख गया यह! कदाचित् यह इससे कहीं पहिले आपके सामने आ जाता, परन्तु लिख जाने के बाद यह एक महानुभाव की अनुमति के लिए उनके यहाँ पड़ा रहा, पर वे इसे देखकर भी देखने का अवसर ही न निकाल सके। हाँ! उन्होंने स्वयं भू देवों के प्रति जो उदारता तथा श्रद्धा मेरे हृदय में थी उसे अवश्य नष्ट कर दिया; इसके लिये मैं उनका आभारी हूं। अब मैं आगे बढ़ूंगा, अपना नैवेद्य साहित्य के ठेकेदार पुजारियों द्वारा माँ तक पहुचाने का भाव अब मेरे हृदय में नहीं है। माँ के प्रेम पर अधिकार सबका है और रहेगा। समाज के स्वयंभू देवता बीच में प्रसाद न हड़प सकेंगे।

साहित्य के पण्डों ने तो, मन्दिर के द्वार पर रोक ही लिया था, और सम्भव था कि मेरी अन्य कृतियों के समान यह कृति भी अलमारी में पड़ी पड़ी मेरी मूर्खता की हँसी उड़ाती, पर इसे तो जनता जनार्दन के समक्ष आना ही था अत: जब मैंने परमश्रद्धेय गुरुवर पं० सोहनलाल जी द्विवेदी को इसे दिखाया तो जिस प्रेम से उन्होंने इसे पढ़ा, उससे वास्तव में मैं उत्साहित हुआ, और इसे प्रकाश में लाने का लोभ संवरण न कर सका।

मेरे वे बन्धु जिन्होंने धन, मन, धन से मुझे सदैव प्रोत्साहित किया है और कर रहे हैं वे सर्व श्री शम्भूनाथ जी, विश्वनाथ जी अग्निहोत्री, कृष्णचंद्र तिवारी, वेदप्रकाश जी अग्रवाल, सूर्य्यप्रसाद जी वर्म्मा, उमादत्त पाण्डेय, गोविन्दप्रकाश गुप्त, प्रकाशचन्द्र चतुर्वेदी, जगदीश प्रसाद द्विवेदी, गिरजाशकर मिश्र, आत्माप्रकाश दुबे, श्रीकृष्ण गुप्त, श्रीकृष्णचन्द्र जी 'करुण', गिरिजा प्रसाद जी वशिष्ठ, श्रीनाथ मेहरोत्रा, राजबहादुर गुप्त, कामताप्रसाद, उजागर सिंह द्विवेदी, रामस्वरूप सिंह, वृजमोहन जी अग्निहोत्री, शिवाधार पाडेय, बद्रीनारायण जी तिवारी, भूपेन्द्र सिंह, रामप्रकाश अग्निहोत्री, रामप्रकाश अग्रवाल, बाबूराम दीक्षित, जगदीशप्रसाद शर्मा, लक्ष्मीनन्दन द्विवेदी, हरीनन्दन द्विवेदी, कमलाकान्तशर्मा, व्यास नारायण शुक्ल, भोजराज कात्यायन तथा शालिग्राम श्रीवास्तव आदि समस्त सहकर्मी हैं, जिन्होंने इसके प्रकाशन में अपनी अमूल्य सहायता दी है, उनके प्रति मैं यदि कृतज्ञता प्रकाश न करूँ तो अन्याय होगा।

मेरे अनन्य मित्र श्री सिद्धेश्वर जी अवस्थी, श्री नीरज जी, श्री देवीप्रसाद जी शुक्ल 'राही' तथा श्री भागवतप्रसादजी मिश्र 'वागीश' जिन्होंने इसे इस रूप में प्रस्तुत करने में जो परिश्रम किया है उसके लिये वे न केवल धन्यवाद के पात्र हैं वरन् मैं उनके परिश्रम का चिर ऋणी रहूँगा।

अपने भुक्तभोगी जीवन के उन समस्त गुरुजनों—श्री दक्ष सिंह जी गहलौत एम. ए., एल. एल. बी., श्री गजाधरलाल जी, श्री एतकाद हुसेन जी, श्री पृथ्वीनाथ जी चतुर्वेदी, श्री चुहल सिंह जी, श्री अजब सिंह जी, श्री शिशुपाल सिंह जी, श्री मान सिंह जी, श्री सत्यसागर जी, शर्मा, श्री मुहम्मद सखर बुखारी का हृदय से आभारी हूँ कि जिनके शान्त और स्वस्थ निर्देशन में कार्य करता हुआ मैं भारती को अपना यह नैवेद्य अर्पित कर सका हूँ।

श्री रामेश्वर जी ओझा, श्री देवी प्रसाद जी धवन 'विकल' तथा भाई श्री शम्भूनाथ जी भार्गव तथा सुधा-प्रेस के समस्त कर्मचारियों का कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इसे सौन्दर्य प्रदान करने की पूर्ण चेष्टा की है। श्री अयोध्याप्रसाद जी वाजपेयी 'सेवक' को भी मैं धन्यवाद देना भूल नहीं सकता, जिन्होंने कि समय समय पर मुझे प्रोत्साहित किया है।

अन्त में अपने दादा देवदत्त जी मिश्र के श्री चरणों में अपना प्रणाम निवेदन करता हूँ जिन्होंने इसका कुछ अंश पढ़कर मेरा उत्साह बढाया था।

—प्रेमनन्दन द्विवेदी 'दुखित'

पुरुष पात्र :

★ शुक्राचार्य—असुरों के गुरु, दधीचि के पिता, समदर्शी महापुरुष।

★ दधीचि—शुक्र के पुत्र, बृहस्पति के शिष्य, पूर्ण मानव।

★ बृहस्पति—देवगुरु।

★ इन्द्र—देवताओं के राजा।

★ अग्नि
★ यम
★ वरुण
★ धर्मराज
★ कुबेर
★ कामदेव

} विख्यात देवता

★ चित्रसेन—गन्धर्व।

★ त्वष्टा—एक महात्मा।

★ वृत्र—एक महात्मा बाद में इन्द्र का प्रतिद्वन्दी त्वष्टा के पुत्र।

★ विश्वरूप—समदर्शी महात्मा त्वष्टा के ज्येष्ठ पुत्र।

★ सारस्वत—दधीचि का पुत्र।

★ दमड़ू, विद्यार्थी, द्वारपाल, प्रतिहारी, वृद्ध इत्यादि।

★

स्त्री पात्र :

★ शची—इन्द्राणी।

★ रम्भा
★ उर्वशी

} अप्सरायें।

★ अलम्बुषा—अप्सरा बाद में दधीचि की पत्नी।

★ युवती—एक सतायी हुई अबला।

प्रस्तुत नाटक का अभिनय करने से पूर्व केन्द्र से अनुमति ले लेना अनिवार्य है।

अस्थिदान

अस्थि-दान

[अङ्क प्रथम दृश्य प्रथम]

[साधारण गृह का एक भाग]

(एक वृद्ध चारपाई पर बैठे हैं पास में दो युवक बैठे हैं एक लड़का और एक लड़की पास खेल रहे हैं।)

पहला युवक—कितना मधुर, कितना सुन्दर ?

बृद्ध—क्या है बेटा ?

एक युवक—एक गीत है बाबा।

बृद्ध—मुझे भी सुनाओ।

युवक—लो सुनो बाबा, मुन्नू, कमला आओ हम सब मिलकर गायें।

(सब गाते हैं)

॥ गीत ॥

अपना प्यारा देश
जग से न्यारा देश

पुखराजों से मुकुट जड़ा है, हिय पर हीरक हार पड़ा है
पदतल में नीलम बिखरे हैं, मधुर मनोहर वेष
हिमकिरीटिनी, भारत जननी, जय भारत, जय भारत, जय जय है।
जन्मे यहीं राम औ सीता, गूंजी जिनकी गौरव गीता
मोहन की मुरली से गुञ्जित, प्रतिक्षण पुण्य प्रदेश
हिम किरीटिनी०
यहाँ रंक भगवान बने हैं, राजा यहीं किसान बने है
कण कण में तप त्याग भरा है, पावन पुण्य स्वदेश।
हिम किरीटिनी०
यहीं हलाहल पी प्रलयंकर, बने विश्व के हित शिवशंकर
यहीं काम की जली चिता थी, खिल खिल हँसता देश।
हिम किरीटिनी०
शिव दधीचि की गौरव गाथा, उच्च किये हिमगिरि का माथा
सुखद साम्य की जन्म भूमि यह, जग से न्यारा देश ॥
हिम किरीटिनी० ॥

—×—×—

(गीत की समाप्ति पर)

एक युवक—ये दधीचि कौन थे बाबा ? इनका नाम तो कई जगह पढ़ा है परन्तु पूर्ण परिचय अब तक प्राप्त नहीं हो सका।

वृद्ध—बेटा ! सुनो, तुम्हें मैं आज दधीचि का ही चरित्र सुनाता हूं, इनका यह चरित्र अथर्ववेद. शतपथ, ब्राह्मण, ब्रह्माण्ड पुराण तथा श्री मद्भागवत में है, कोई इन्हें महर्षि अथर्वा का पुत्र मानते है और कोई समदर्शी महात्मा शुक्र का। हाँ बेटा ! तो उस समय भी यही हाल था।

दूसरा युवक—क्या बाबा ! तब भी ऐसे ही बड़े बड़े नगर, राजा रईस, जमींदार किसान थे।

वृद्ध—क्यों नहीं बेटा ! सृष्टि सदा ऐसी ही रही है, और ऐसी ही रहेगी, आज की तरह उस समय भी नगर निवासी बुद्धिवादी अपने को देवता कहते थे और ग्रामीण कृषकों तथा श्रमिकों को अपने सेवक असुर समझ कर सदा ही उनके

लूटने और नाश करने के उपाय सोचा करते थे। "हिरण्यगर्भ" का हिरण्य शब्द ही इसका प्रमाण है कि देवताओं ने इन भोलेभाले ग्रामीणों के सर्वनाश के लिये सुवर्ण की खोज कर ली थी। स्वार्थ पर ही आधारित उनका स्वर्ग स्वर्ण, सुरा, सुन्दरी एवं सत्ता का ही केन्द्र था। देवता बनकर मनुष्य मनुष्यता की हत्या कर डाली थी। प्रकृति का सबसे प्यारा पुत्र बुद्धि से सुसज्जित हो मां का दुलार भूल मां को केवल भोग्या मान बैठा था।

पहिला युवक—पर मैंने तो ऐसा किसी भी पुस्तक में नहीं पढ़ा।

बृद्ध—बेटा! पुस्तकों के रचयिता वे साहित्यकार! वे भी तो देवता ही बन गये थे, जिन्होंने सत्ता के भय से सीधी बात कहने का साहस खो दिया था, पहिले तो वे कुछ कह ही न सके, यदि कहा भी तो कविता के परदे में। सत्य को असत्य बताकर वे सदैव ही घट घट वासी को संसार से दूर क्षीर सिन्धु में सुला सके या महान शिवत्व को कैलास शिखर पर ही बिठा सके, शासन का भय उनके होठों पर ताला जो डाले था। अत्याचारों को चुपचाप भाग्य का फल बताकर सहने का आदेश ही वे दे सके। मन्त्र बल से युक्त यानी मौखिक योजनायें बना देने वालों को देवता कहकर वे पूज सके पर यन्त्र बलशाली कर्म में रत मनुष्यों को भी उन्होंने अनादर के साथ देखा और उन्हें समाज की घृणा का पात्र बना दिया। उन कर्म रत लोगों को असुर कहकर अकर्मण्यता का पाठ ही समाज को पढ़ने दिया। मनुष्यता को छोड़ वैभव की पूजा ने ही मनुष्य को सदा के लिए अशान्ति का चिर शाप दे दिया है।

दूसरा युवक—तो क्या मनुष्य न थे उस समय?

बृद्ध—बेटा! मनुष्य तो सभी थे पर बुद्धि ने मनुष्य मनुष्य के बीच एक खाई जो डाल दी थी, फिर भी एक समूह था, मनुष्यों का, जिनके पास हृदय था, बुद्धि थी, और था बिश्व के कण कण से प्यार। उनकी दृष्टि में सब कुछ समान था, न पाप था न पुण्य, न सत्य था न असत्य। वे थे केवल एक अन्तर्यामी सर्व व्यापक प्रभु के पावन रूप। वे चराचार के मित्र थे। ममतामयी दृष्टिसे वे जिधर देखते, वही उनका हो जाता, और ये देवता सदा उनसे भयभीत रहते।

कमला—बाबा! ये देवता क्यों भयभीत रहते थे?

बृद्ध—इसलिये कि जन शक्ति उनके साथ होती थी, और ये देवता अपने सिंहासन के मोह में रत किसी को अपने से ऊपर उठा देख नहीं सकते थे। इनके पास देखने का एक ही दृष्टिकोण था, वह था ग्रहण। त्याग की उदार भावना

इनके पास न थी, छल से प्राप्त की हुई शक्ति के ह्रास का इन्हें सदा भय लगा रहता था, और इसीलिये यह स्वार्थी किसी न किसी उपाय से उन मनुष्यों का जो संसार की कल्याण कामना से आगे बढ़ते, सर्वनाश करने में लगे रहते थे। बेटा ! इनके अत्याचारों की अनेक कथायें हैं, इनके अत्याचारों से जब जब समाज ऊब उठता, तब तब कोई न कोई मनुष्य जनशक्ति से इन्हें मनुष्यता का पाठ पढ़ा जाता।

मोहन—बाबा ! हमारी किताबों में लिखा है कि ये असुर हरि विमुख थे, क्या वे नास्तिक थे ?

बुद्ध—शिव ! शिव !! उनसे बढ़कर न आस्तिक कोई हुआ और न होगा। हां वे अपने से दूर रहने वाले कल्पित भगवान को न मानते थे। 'शिवोऽहम्' उनका महामन्त्र था, वे परमत्यागी थे। सदा परमार्थ में रत रहते थे, बलि की कथा तुम सुन ही चुके हो, फिर सोचो क्या वे नास्तिक थे। बेटा ! जब जब इन स्वयं भूदेवों और उन हृदयवान असुरों में युद्ध ठनता तब तब हार सदा इन स्वार्थी देवों की होती, क्योंकि न तो इनके पास शारीरिक बल था और न चारित्रिक। ये सदैव के भोगी हार कर फिर मनुष्यता की शरण लेते।

मोहन—बाबा ! मैं समझ गया, तभी बार बार भगवान को मनुष्य रूप धारण कर आना पड़ा। तब तो बाबा मनुष्य, देवता से कहीं अच्छा है मैं भी आदमी बनूंगा।

बुद्ध—तुम ठीक समझे बेटा ! जब विजयी विजय गर्व में चूर हो जाता है, पराजित हार कर अकर्मण्य हो जाता है, और विजयी विश्वम्भर को भूल विश्व पर अधिकार की चेष्टा में रत होता है, तब उस विश्व नियन्ता को किसी महामानव के द्वारा, कर्म का सन्देश देना पड़ता है, यही है—अवतार का रहस्य। मनुष्य ही बुद्धिवादी है अतः मनुष्य के ही सुधार के लिए ऐसा करना आवश्यक होता है।

कमला—पर बाबा दधीचि.....।

बाबा—तो बेटा ! ऐसा ही समय एक बार जब उपस्थित हुआ तो जैसे इस युग में संसार के कल्याण के लिये पूज्य बापू ने अपना जीवनदान किया, ठीक उसी प्रकार समन्वय का मार्ग दधीचि ने विश्व को दिखाया। लो.....।

(प्रकाश बुझता है, पुनः—प्रकाश होने पर)

× × ×

[अङ्क प्रथम दृश्य द्वितीय]

[एक वृक्ष के नीचे सुन्दर चबूतरे पर कुशासन के ऊपर आचार्य शुक्र ध्यान मग्न बैठे हैं पास ही अत्यन्त विनम्र भाव से एक साधारण ब्रह्मचारी के वस्त्रों में दधीचि हाथ जोड़े खड़े हैं, शुक्र की समाधि टूटती है 'सोऽहम्, सोऽहम्' कहते हुये आचार्य नेत्र खोलते हैं एक स्नेहमयी दृष्टि डालकर दधीचि को निकट आने का सङ्केत करते हैं। दधीचि दण्डवत् करके]

दधीचि—आर्य ?

शुक्राचार्य—संसार की मंगल कामनाओं मे रत शतञ्जीवी हो। पुत्र ! मैंने तुम्हें कई बार इस सम्बोधन पर टोका है, मेरे हृदय को इस सम्बोधन से पीड़ा होती है।

दधीचि—पिता जी ! जब जब मैंने आपको आर्य कहा, तब तब आपने मुझे टोका, और एक निश्वास छोड़ी, पर मुझे अपनी पीड़ा का कारण न बताया।

शुक्राचार्य—पुत्र ! इस शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ ! इसके उच्चारण मात्र से ऊँच-नीच का बोध होता है, कौन किससे श्रेष्ठ है वत्स ! धूल का परमाणु या आकाश का नक्षत्र ! दोनों ही समान हैं। आकार को छोड़ दोनों में बोझ केवल हरि का ही है। बूंद और सागर दोनों ही जल है फिर भेद कैसा !

दधीचि—प्रभो ! शिष्टाचार भी तो समाज का एक आवश्यक अङ्ग है ।

शुक्राचार्य—प्रभो भी सीख लिया तुमने ! क्यों न सीख लेते, आचार्य बृहस्पति की यही शिक्षा है, कहो है आज तुममें वह ललक, वह मेरी गोद में निःसङ्कोच भाव से दौड़कर आ गिरने की कामना । तुम दूर हो गये हो मुझसे । हमारे बीच शिष्टाचार की दीवार जो है, पुत्र, हृदय देकर मस्तक ले आये । क्यों !

दधीचि—पिता जी !

शुक्राचार्य—(ठण्डी श्वास लेकर) ठीक ही है, परन्तु याद रखो, अशिष्ट भोले बालक को सब प्यार करते हैं किन्तु शिष्टाचारी विद्वान् घृणा का पात्र होता है । वत्स ! प्रेम में पूजा की भावना का आना ही प्रेम की मृत्यु है । पूजा से संकोच, संकोच से भय, भय से दुराव होता है, और यह दुराव अशिष्टता से अधिक भयानक है ।

दधीचि—मैं आपका आशय नहीं समझा पिता जी । आपके इतने आकुल होने का कारण भी न जान सका ।

शुक्राचार्य—वत्स ! तुम्हें ज्ञात है कि अपनी साम्य दृष्टि के कारण ही मैं अपने प्रतिद्वन्द्वियों में एकाक्षी कहलाता हूँ । मैं उनकी नीति का विरोधी हूँ । मेरी दृष्टि में विश्व के किसी भी अंश को अपने से भिन्न देखने की शक्ति नहीं । सब एक हैं, कौन स्वामी, कौन सेवक, आभूषण या सोना, दोनों ही सोना है ।

दधीचि—पिता जी ! प्रत्येक स्थान पर भेद तो प्रत्यक्ष है । यह.....

शुक्राचार्य—वत्स ! इस भेद को भेदनेवाली बुद्धि प्राणी मात्र में देकर ही नटखट नटराज आँख मिचौनी खेलते हैं । वत्स ! तर्क बुद्धि का काम है, हृदय का नहीं, कण कण में एक आकर्षण है, वह आकर्षण तर्क की कसौटी पर कसने से अपना स्वाभाविक रूप खो बैठता है ।

दधीचि—मैं आपका आशय नहीं समझा तात !

शुक्राचार्य—किसी वस्तु के वाह्य रूप को देखकर तुम उसके गुणों का अनुमान करने लगते हो, और अनुमान सत्य नहीं होता ! विश्लेषण तुम कर सकते हो, परन्तु विश्लेषण से सौन्दर्य नष्ट ही होगा ।

दधीचि—परन्तु बिना विश्लेषण किये बुद्धि किसी वस्तु को स्वीकार करे कैसे ?

शुक्राचार्य—बुद्धि विश्लेषण करे, किन्तु स्मरण रखो, विभाजित होने पर प्रत्येक वस्तु स्वाभाविक रूप खो बैठती है और अपनी शक्ति भी । विश्लेषण बिना विभाजन नहीं हो सकता । फूल का सौन्दर्य पंखुड़ियों को अलग

करने से नहीं निखरता, फूल से सुगन्ध पृथक कर देने का अर्थ है फूल के सौन्दर्य को अलग कर देना। हृदय की सुनो ! वह तुमसे तर्क भी नहीं करेगा। यदि माँ का हृदय तर्क कर सकता तो न मैं होता न तुम।

दधीचि—हृदय, बुद्धि, तर्क, मैं कुछ भी न समझा पिता जी !

शुक्राचार्य—वत्स ! पूजा और प्रेम। बुद्धि पूजा चाहती है और हृदय प्रेम। ममता पर संसार जी रहा है। बुद्धि केवल विनाश ही समझ सकी है।

दधीचि—तात ! यह आप क्या कहने लगे, बुद्धि और विनाशिनी।

शुक्राचार्य—चौंको मत ! आश्चर्य भी मत करो। प्रमाण प्रत्यक्ष है, खण्ड खण्ड हुई मानवता विनाश के ज्वालामुखी के मुख पर खड़ी आज बुद्धिवादियों को कोस रही है। एक अग्निबाण और सब स्वाहा। किसलिये ? यह सब पूजा के लिये, केवल अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये। अधिक से अधिक ग्रहण की इच्छा पूर्ति के लिये। हाय री तृष्णा ! मनुष्य ! पागल मनुष्य !! तू नहीं जानता कि आगे आने वाली सन्तानों के लिये तू विष वृक्ष बो रहा है।

(शोक से मस्तक पर हाथ रखते हैं)

दधीचि—पिता जी ! यह क्या आप तो .....

शुक्राचार्य—देख रहे हो दधीचि ! इन देवताओं की स्वार्थबुद्धि। वे संसार को भाग्य और सन्तोष का पाठ पढा सकते हैं, पर स्वयं नहीं पढ़ सकते। अस्थियों में से रक्त खींचने की उनकी चेष्टा तुम देख रहे हो। आज वे पृथिवी को माता नहीं भोग्या मानते हैं। शोषण उनका धर्म है, वासना उनकी पूजा और विलास उनकी सिद्धि। वे भूतल पर रह कर भी स्वर्गवासी हो गये हैं, हाय री बुद्धि !

दधीचि—तात ! धृष्टता क्षमा हो। बुद्धि की श्रेष्ठता स्वीकार किये बिना संसार चल भी तो नही सकता। यदि हृदय से ही सारा कार्य हो जाता तो बुद्धि की आवश्यकता ही क्या थी।

शुक्राचार्य—प्रश्न सुन्दर है। परन्तु बुद्धि पर सोचते समय यह क्यों भूल जाते हो कि बुद्धि केवल तुम्हारे ही भाग में नहीं आई है। बुद्धि समस्त प्राणियों में है, पर केवल मनुष्य ने विकृत कर लिया है, बुद्धि इसलिये है कि मनुष्य भिन्न में अभिन्न खोज कर कण कण का अभिन्न हो जाय। परन्तु देखता हूं कि बुद्धि पाकर मनुष्य अभिन्न से भी भिन्न होता जा रहा है। भयानक प्रवञ्चना !

दधीचि—पिता जी ! भेद तो प्रत्यक्ष है बिना भेद प्रगति असम्भव है। और बिना

प्रगति जीवन में सार ही क्या रहेगा ?

शुक्राचार्य—पगले ! तुम्हारी यह प्रगति कल तुम्हारी ही सबसे बड़ी बाधा बनेगी, वर्तमान कल अतीत बनेगा और शेष रहेगी, विनाश की एक कहानी, विजय बुद्धि को मिलेगी क्योंकि प्रकाश के पीछे अन्धकार का चिरन्तन सत्य तुम भूल बैठे हो। आत्मा को न देख शरीर को देखने वाले प्रलय के अन्त का अन्धकार भूल जाते हैं। स्वर्ग की कल्पना में धरा को न भूलो। वत्स ! उचटती दृष्टि में जो रेखायें तुम देख रहे हो, ध्यान से देखने पर तुम्हें उन्हीं रेखाओं में—'सत्यं शिवं सुन्दरम्' दृष्टिगोचर होगा।

दधीचि—आपका आशय यह है कि यहाँ पर व्यर्थ कुछ भी नहीं।

शुक्राचार्य—बेटा ! आम में गूलर या बबूल के फल नहीं लगते, सत्य में असत्य, सुन्दर में असुन्दर, शिव में अशिव की कल्पना केवल बुद्धि की विकृति का द्योतक है।

दधीचि—पर मृत्यु, वह तो कल्पना में भी भयावह है, कांटे से फूल की तुलना।

शुक्राचार्य—देखता हूँ तुलना करते करते मनुष्य पाषाण बना जा रहा है। तुम हर वस्तु को उसके स्वाभाविक स्थान पर क्यों नहीं देखते। बेटा ! जीवन का ध्येय उस परम सुन्दर की सुन्दरतम खोज है जो कण कण से झाँक कर अपनी ओर बुलाता है और फिर छिप जाता है। राह की दृश्यावलियाँ देखते चलो, अधिकार की चेष्टा न करो, उलझन है स्वत्व की भावना भी। पथ भूल जाओगे, यदि छूने का साहस भी किया। कहीं न अटको, पथ पर बढ़े चलो।

दधीचि—परन्तु हृदय तो सब कुछ अपना लेना चाहता है, प्रत्येक पग पर मचलने वाला मन नेत्रों का क्रीत दास है पिता जी !

शुक्राचार्य—समझने में भूल न करो बेटा ! हृदय का काम अपनाना तो है पर अपना आपा देकर, यह तो बुद्धि है जो अपना अधिकार चाहती है। विश्व वाटिका में घूमने का आधिकार सबको है। पर फूल तोड़कर उजाड़ने वाले के लिये बनमाली ने दण्ड की व्यवस्था भी की है, यह न भूलो वत्स ! फूल फूल को खा नहीं जाता, भ्रमर और मधुमक्खी भी सौरभ और पराग पर सन्तोष कर फूल का सौन्दर्य नष्ट नहीं करते तो विवेक के गर्व से गर्वित परम बुद्धिशाली मानव को ही क्या अधिकार है कि फूल को मसल कर आवश्यकता से अधिक मधु का सञ्चय करे।

दधीचि—मनुष्य को कर्म करना ही होगा, पुरुषार्थ का फल संचित होना ही चाहिये।

शुक्राचार्य—वत्स ! आवश्यकता से अधिक संचय करने वाली मधुमक्खी के हाथ केवल रोना ही रहता है और भंवरा सदैव गाता रहता है; फिर बेटा ! तुम इस वाटिका के एक मधुर फल हो जिसका धर्म है औरों के लिए फूलना-फलना और मिट जाना।

दधीचि—सब कुछ औरों के लिये, अपने लिये कुछ भी नहीं।

शुक्राचार्य—बेटा ! वृक्ष फलते हैं, नदियाँ बहती हैं, पेड़ों का भार संभाले पर्वत अचल हैं, क्यों ? अपने लिये; नहीं दूसरों के लिये, यही कारण है कि बसन्त वृक्षों की गोद फूलों से भर जाता है, वर्षा सागर को समेट बूंदों से नदियों का अञ्चल भर जाती है और पर्वत, पागल झञ्झा की भयानक, चुनौती हंसकर स्वीकार करता है। क्या तुम प्रकृति का यह व्यापार निहार सके हो ?

दधीचि—सङ्गीत, कला साहित्य की सहायता से असुन्दर में सुन्दर खोजने की शिक्षा इन्द्र लोक में अवश्य प्राप्त करता रहा हूं। परन्तु.....

शुक्राचार्य—(बड़े जोर से हंसते है)

दधीचि—यह क्या पिता जी ! आप हंस रहे हैं।

शुक्राचार्य—क्यों न हँसूं, महल गिराकर बनाना, गाँव उजाड़ कर बसाना, सार को पहिले असार कहना फिर सार को खोजना। कुरूपता की कल्पना करने के उपरान्त फिर सौन्दर्य की खोज करना, इससे अधिक बुद्धि करेगी भी क्या ! प्रकृति से स्वर न मिलाकर स्वर को विकृति कर पुनः साज की सहायता से संभालने की चेष्टा करना, यही तो देवों की बुद्धिमत्ता है। पागल मनुष्य देवता बनकर असीम की सीमा छूना चाहता है, नियमों में बांध कर प्रकृति-दत्त गुण स्वभाव को नष्ट करके मनुष्य शस्त्रों शास्त्रों की छाया में शान्ति खोज रहा है, देवता बनकर; (फिर हंसते हैं)

दधीचि—नियमों के बिना समाज स्थिर कैसे रह सकता है ?

शुक्राचार्य—प्रकृति के नियम भङ्ग कर मनुष्य, मनुष्य के लिए नियम बनाये इससे बड़ी मूर्खता और क्या होगी। ऐसे नियम केवल विनाश की ओर ही ले जा सकेंगे, दधीचि !

दधीचि—क्यों पिता जी !

शुक्राचार्य—मां, पूजा नहीं, अधिकार नहीं, केवल प्यार चाहती है और प्रेम नियमों से नहीं बँध सकता, एकाधिकार की भावना ही नियमों की रचना में प्रधान है और यह भावना ही बैर का मूल है।

दधीचि—पिता जी ! देवों की दुर्नीति जानकर भी मुझे इन्द्रपुरी भेजने का कारण ?

शुक्राचार्य—युगों से सुलगती बैर अग्नि की शान्ति का उपाय खोजने की अभिलाषा ! बेटा ! मैं चाहकर भी देवों को न अपना सका, सम्भव है मेरा हृदय और बृहस्पति का मस्तिष्क लेकर तुम कोई उपाय निकाल सको, धूप के बिना छांह का भान नहीं होता। अनुभूति ही सच्ची शिक्षा है। जाओ ! जीवन-पथ तुम्हें स्वयं चलना सिखायेगा। जाओ वत्स, पर एक बात...केवल एक बात कहूँगा, पर तुम्हारे पिता की आज्ञा—कामना नहीं, नहीं प्रार्थना है, तुम मनुष्य की सन्तान हो, देवता बनने की चेष्टा न करना, यदि मनुष्य रहे तो मुझे शान्ति मिलेगी। मनुष्य का धर्म है प्रेम और सेवा। जाओ ! सुखी रहो। आँखें पोंछते हैं।

दधीचि—(आँखें पोंछते हुए) तात ! आपको आँखों में अश्रु।

शुक्राचार्य—बेटा ! रोना और हंसना मनुष्य का धर्म है, जाओ मेरे लाल, संसार में सुख तो सम्भव है, शान्ति पाने की चेष्टा करना। सन्तोष और त्याग का थोथा उपदेश, हो सकता है देवलोक में तुम्हें मिलें, पर मैं नहीं दूंगा। जाओ ! शङ्कर तुम्हारी रक्षा करें (हृदय से लगाते हैं दधीचि धीरे धीरे जाते हैं।)

शुक्राचार्य—गया। चला गया। कितना सरल, कितना सौम्य,। गुरु बृहस्पति ! देखना है मेरे हृदय के इस टुकड़े को तुम क्या बनाते हो। स्वर्ग बनाकर मानवता तो खण्ड खण्ड कर दी। कदाचित् विश्व को दो श्वासें शान्ति की भी दे सकने।

(धीरे धीरे जाते हैं)

× × ×

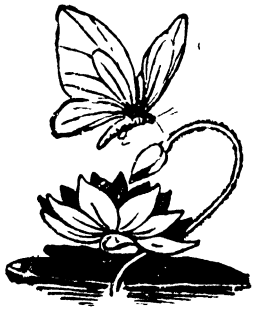

[अङ्क प्रथम दृश्य तृतीय]

स्थान—राजोद्यान

[एक वृक्ष के नीचे महारानी शची उद्विग्न खड़ी हैं। उर्वशी आती है, महारानी के मुख पर विषाद की गहरी छाया देखती है और कहती है]

उर्वशी—महारानी ! यदि दासी का अपराध क्षमा हो तो एक बात पूछूं।

शची—(विरक्ति से) पूछो।

उर्वशी—क्या दासी महारानी की चिन्ता का कारण जान सकती है ? इस स्वर्ग में रहकर भी मुख पर विषाद की गहरी छाया !

शची—(व्यंग्य से) यही देवलोक, सुखों का क्रीड़ास्थल, चारों ओर कोलाहल, क्षण भर कहीं शान्ति नहीं, देवताओं के वेष में जहाँ पाषाण निवास करते हैं, जहाँ का धर्म है स्वार्थ, साधना है द्वेष और सिद्धि है भोग-विलास। इसी को देवलोक कहती हो।

उर्वशी—महारानी ! यों सदा ठण्ढी सांसें लेना, न कभी हंसना, न मुस्कुराना, चुपके चुपके आँसू बहाना, मैं पूछती हूं ऐसे जीवन क्या भार न हो जायेगा।

शची—महारानी ! महारानी ! महारानी को तुम लोग नारी क्यों नहीं समझ पाती। महारानी कहकर पूजा करने का सब नाट्य करते हैं। परन्तु प्रेम कोई नहीं

करता, एक आतङ्क, सङ्कोच, मेरे पास किसी को नहीं आने देता। कोई मुझसे मेरे मन की बात पूछने का साहस क्यों नहीं करता। मैं केवल महारानी ही नहीं, नारी भी हूं। (स्वगत ठण्डी सांस लेकर) अहो ! तुम मुझे केवल महारानी न समझ कर नारी भी समझनी।

उर्वशी—ऐं कौन आपके पास नहीं आना चाहता ? कौन आप से बात नहीं करना चाहता ? यह आप कैसी बातें कर रही है !

शची—मैं देव कन्या नहीं हूं। मुझे देवलोक क नियम ज्ञात नहीं। देवाङ्गनाएं मुझे देखकर मुंह फेर कर मुस्कराती है। क्या मैं यह सब नहीं देख सकती ?

उर्वशी—देवी !

शची—उफ़्, यदि तुम्हारे पास भी हृदय नही तो मुझे छोड़ जाओ।

उर्वशी—नहीं देवी ! मन की बात सुने बिना न जाऊंगी।

शची—(स्वगत) आह ! कहां वे सुखद अमराइयां ! जहां ऊंची आम की डाल पर बैठ कर कोयल हरी सरसों की बसन्ती साड़ी देखकर मतवाले स्वर में कूक उठती थी ! भ्रमरों का विरह-गान सुन कर कलियां मुस्करा कर घूंघट खोल देती थीं। जहां क्षितिज पर उठे बादलों को पपीहा पुकारा करता था और उसकी प्यासी पुकार पर सावन काली घटाओं के मुकुट पर सुनहली बेल सजाए, धानी वस्त्र पहिने मल्हार गाता हुआ आता था और जब.....

उर्वशी—और जब,...कहे जाइए। कह जाइए महारानी ! कितना मधुर ! कितना मादक ! (नेत्र मूंदती है)

शची—जब वृक्षों के गले से लिपट कर मैं झूमती थी वहां सब कुछ अपना था ! मैं स्वतन्त्र पक्षी की भांति उड़ती थी ! बादलों से बातें करती थी। प्रातः ऊषा मेरे अधरों को रञ्जित करती थी, सुनहली उंगलियों से रवि मेरी अलकें सहलाता था। मलय-पवन गुदगुदाता था और मैं कलियों के साथ हंसती थी।

उर्वशी—फिर महारानी !

शची—मुझे महारानी कहकर मेरा स्वप्न भंग न करो। महारानी सोना देख सकती है स्वप्न नहीं। वह स्वप्न (नेत्र मूंदती है)। हां, वह एक स्वप्न था। जब मेरी सहेलियां मेरे गले से लिपट कर मेरे मन की बातें सुनतीं थीं; क्या वह सुख मुझे फिर नहीं मिल सकता उर्वशी ?

उर्वशी—यह आप क्या कह रही हैं महारानी ? इन्द्राणी का पद क्या कोई.....।

शची—चुप.....। कदाचित् तुम उस सुख और साम्राज्य का स्वप्न देख पातीं,

गोधूलि वेला में ममता का वह प्यारा चित्र, हृदय का वह प्रेम भरा सङ्गीत तुम सुन पातीं। मैंने देखा है, वह दृश्य और उस दृश्य पर देवलोक का सारा एश्वर्य वार सकती हूँ उर्वशी !

(इन्द्र का प्रवेश)

इन्द्र—किस पर देवलोक वार रही हो महारानी ! उन भोंड़े मिट्टी, गोबर से लिपे-पुते घास फूस के झोपड़ों पर ! जिन में दिन का प्रकाश और रात्रि का अन्धकार समान रूप से वास करता है, उन दुर्गन्धयुक्त अपावन पशुओं के गोबर और कचरों के ढेरों पर जो ग्राम के बाहर से ही पथिक का स्वागत करते हैं। या उन काले कलूटे अधनङ्ग मैले असभ्य बनवासी दैत्यों पर जो कि·····।

शची—क्षमा कीजिये महाराज ! सहने की भी एक सीमा होती है, वे काले कलूटे हैं अवश्य, पर देवताओं की भांति उनका अन्तर काला नहीं, वे पलक बिछाकर स्वागत करते हैं और हृदय खोलकर सत्कार।

इन्द्र—(अट्टहास करके) क्यों न कहोगी ? मूर्ख असुरों की मूर्ख सन्तान ! कहां ये विशाल भवन और कहां वे टूटे झोपड़े जिनमें आठों पहर दरिद्रता नङ्गी नाचती है, कहां यह नृत्य, यह गान, देवाङ्गनाओं के वस्त्रों से निकलती हुई मादक सुगन्धि और कहां वह अपवित्र पसीने की दुर्गन्ध ?

शची—महाराज ! यह भूल गये हैं, उस दुर्गन्धयुक्त पसीने में ही महाराज का विलास छिपा है। देवाङ्गनाओं के सुरभित वस्त्र तभी तक हैं जबतक उनके मस्तक पर पसीना है। (मुंह फेर लेती है)

इन्द्र—इसमें खेद का कोई कारण नहीं महारानी ! ईश्वर ने उन्हें इसलिये बनाया है कि वे श्रम करें और हम उनके श्रम का फल भोगें। श्रम करना उनका भाग्य है और विलास करना हमारा भाग्य है। यह हमारी पूर्व तपस्या का फल है।

शची—यही तो सिखलाते आये हैं आप ! महाराज ! यह ईश्वर का न्याय नहीं आपकी चाल है। भाग्य की कल्पना कराके ही आपने सदैव दुर्बल, असहाय का भाग छीना है। शोक·····यदि वे·····(आँखें भर आतीं हैं)

इन्द्र—यह क्या ? बात बात में मन को छोटा करना कहां से सीखा है महारानी ! असमय ही कमलों पर ओस क्यों ?

शची—आंसुओं को पानी समझने वाला, हृदय की पीड़ा क्या समझेगा महाराज ! यदि आपके पास भी हृदय होता और होता उसमें·····।

इन्द्र—तो क्या मेरे हृदय नहीं। क्या मैं तुमसे प्रेम नहीं करता, तुम्हें प्रसन्न रखने का कौन सा उपाय शेष छोड़ रखा है मैं ने।

शची—कदाचित् आप एक नारी के हृदय को पहचान पाते, आपके प्रेम की साक्षी

यह उर्वशी, रम्भा, मेनका सभी तो यहां हैं। लौह शृङ्खला से नहीं स्वर्ण की साँकलों से अङ्ग जकड़ कर और हाथ पावों में अधिक से अधिक स्वर्ण भार लाद कर ही तो, प्रेम की पराकाष्ठा कर दी है आपने।

इन्द्र—महारानी! आभूषणों से ही स्त्रियों की शोभा है, वस्त्राभूषण रहित नारी... छि: छि: कल्पना भी वीभत्स है।

शची—क्यों नहीं श्रीमान्! नारी भी यही समझ कर नारी से अबला बन बैठी है, स्वर्ण से हृदय का मूल्य जो चुका देते हैं पुरुष!

इन्द्र—महारानी! छोड़ो इन बातों को। प्रेम के ये दो क्षण क्या यों व्यर्थ गँवाने को हैं।

शची—प्रेम की परिभाषा वासना से करने वाले प्रेम क्या जानें। यदि जान सकते...।

इन्द्र—(हँसकर) प्रेम का पाठ पढ़ाने के लिये ही दैत्यराज पुलोमा ने तुम्हें मुझे सौंपा है।

शची—सचमुच। पर वे यह भूल गये कि पत्थर पर दूब नहीं जमती।

इन्द्र—सावधान! महारानी! यह न भूलो कि हमारी कृपा ही तुम्हारे लिए प्रेम है। यह मेरी भूल थी कि कीचड़ से फूल समझ कर उठा लिया, कहाँ वे नीच असुर और कहाँ मैं।

शची—उनकी नीचता यही है कि वे देवों जैसे स्वार्थी नहीं, यदि होते तो देवलोक न जाने कब का समाप्त हो गया होता। परन्तु वे हैं जो जानते हुए भी कि आप सदैव उनका विनाश ही चाहते हैं आपसे प्रेम करते हैं क्योंकि प्रेम ही उनका धर्म है और सेवा ही उनका व्रत।

इन्द्र—महारानी! हर पराजित, विजयी के लिए जो करता है वही वे कर रहे हैं, सत्ता देवों के हाथ में है, हम जानते हैं कि किससे कैसा व्यवहार किया जावे, तुम्हारा पितृकुल? असभ्य-मूर्ख, कुरूप, कहीं कोमलता नहीं, कठोर वीभत्स, कला साहित्य से अनभिज्ञ! सौन्दर्य कभी उनकी ओर मुंह करके भी खड़ा हुआ होगा, मैं नहीं जानता।

शची—क्यों नहीं महाराज! जिसे आप सभ्यता कहते हैं उसे देखकर हमारी लज्जा भी लज्जित होती है। छल बल दम्भ से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना; दूसरों का स्वत्व हड़प लेना। नारी को विनोद का साधन समझना। रूप यौवन रहते उसे फुसलाये रखना, फिर सूंघे हुए फूल की भाँति मसल कर फेंक देना। यही तो आपकी सभ्यता है महाराज?

इन्द्र—(क्रोधित स्वर से) महारानी!

शची—क्रोध कर सकते हैं स्वामी, पर होठों पर आई बात कहनी ही पड़ेगी, रक्त,

मांसहीन शरीरों को कृत्रिम प्रसाधनों तथा वस्त्रों से सजाने की कला आप जानते हैं। इसे आप भले ही सौन्दर्य कहें, पर हमारे यहाँ तो ये पीले मुख मृत्यु की पूर्व सूचना ही समझे जाते है। रही कोमलता, वह हमारे हृदय पर रहती है और आपकी जिह्वा पर। अन्तर अवश्य है श्रीमान्।

इन्द्र--महारानी ! सीमा से आगे बढ़ने की चेष्टा न करो।

शची--अपराध क्षमा हो देव ! पति आज्ञा पालन स्त्री धर्म बताया गया है परन्तु लोक कल्याण के लिए, पति के कल्याण के लिए, उसका उल्लङ्घन भी किया जा सकता है। आपकी विलासिता यह सत्य की अवहेलना, सङ्गीत कला या सत्य के आवरण से छिपाई नहीं जा सकती। महाराज ! दवा कड़वी ही गुणकारी होती है। असुरों को सदैव विजित और हीन समझना यह आपकी भूल है।

इन्द्र--अकारण भय और लज्जा स्त्रियों का स्वभाव है। स्त्री मूर्खा होती है भले ही वह इन्द्राणी हो।

उर्वशी—महारानी ! जाने दें इस अप्रिय प्रसङ्ग को। आज्ञा हो तो एक गीत से इस विषाद का छाया भी मिटा दूँ।

इन्द्र—(जाते हुए) इन्हीं को सुनाओ (तेजी से प्रस्थान)

शची--वैर, घृणा की सुलगती हुई इस आग को तुम्हारे सरस गीत कब तक धधकने से रोक सकेंगे। जब स्वर्ग का बच्चा बच्चा द्वेष, अभिमान, स्वार्थ और अकर्मण्यता का शिकार है, सब विलास वासना की ओर प्रलय की आँधी से प्रेरित तिनको के समान भाग रहे हैं, तो पतन निश्चित है। एक.....

उर्वशी—महारानी !

शची—मुझे महारानी न कहो उर्वशी ! क्या तुम्हें सखी कहना नहीं आता, सखी ! शान्ति होते हुये भी वातावरण में असन्तोष की जो असह्य चीत्कारें सुनाई पड़ रही है क्या वे किसी अनिष्ट की पूर्व सूचनाये नहीं।

उर्वशी—क्यों नहीं महारानी ! महाराज का देवों के साथ सदैव विलास में रत रहना, चारों ओर एक चर्चा का विषय बन गया है कहीं अति वृष्टि, कहीं अनावृष्टि, यह अराजकता, विनाश की पूर्व सूचना अवश्य है।

शची—किन्तु ऐसा क्यों है उर्वशी ?

उर्वशी—बात साधारण है। विजयी विजय गर्व में पूर्वार्जित कर्मों का फल भोगने की इच्छा से अकर्मण्य होता है और पराजित निराशा के कारण जीवन से मृत्यु को अच्छा समझता है। श्रम का फल जब यथोचित नहीं मिलता, तो समाज की गाड़ी कौन चलाये ?

शची—इसका उपाय ?

उर्वशी—उपाय भी है महारानी ! आपको स्मरण होगा, ऐसे ही एक अवसर पर माता दुर्गा ने स्वयं सत्ता संभाली थी, और फिर एक बार जब ऐसा ही सङ्कट उपस्थित हुआ तो गुरुदेव ने श्रावणी पूर्णिमा के दिन अनुष्ठान कराया था। नारी जाति का वह जागरण दिवस था। जब हमने पुरुषों के हाथ में पावन रक्षा बाँधकर उन्हें भ्रातृत्व का स्मरण दिलाया था। कितना पवित्र, कितना महान था वह दिवस !

शची—(हर्ष विह्वल होकर) उर्वशी ! तुमने मुझे सोते से जगा दिया। गाओ, गाओ। वही पवित्र गीत एक बार।

उर्वशी—जो आज्ञा (गाती है)

सुन वीर मेरे, सुन भ्रात मेरे।
आशामय स्वर्ण प्रभात मेरे॥
अनुरागमयी नव केशर की।
यह लाज भरी बेंदी सर की॥
चाहे चढना अब माथ तेरे।
ममतामय कोमल प्यार भरे॥
उनहार मेरे अनुहार भरे।
दो तार बंधे जो हाथ तेरे॥
उन्माद तजो निर्माण करो।
निष्प्राणों में नव-प्राण भरो॥
हम शक्ति बनी हैं साथ तेरे॥
(गाते गाते जाना)

(नदी तट पर सुन्दर कुटीर)

दधीचि—(व्यस्त भाव से टहलते हुए) क्यों आया हूं ? नहीं जानता ! पिता जी, गुरुदेव जी नदी के दो किनारों की भांति कभी नहीं मिल सकते। (सोच कर) परन्तु नदी के किनारे भी सागर तट बनकर एक हो जाते हैं। कौन मिलाता है उन्हें ? वही शीतल जल की मन्द धारा जो पर्वत के कठोर हृदय की ममता सी उनके बीच में आ गई थी जो पाषाणों पर सिर पटकती हुई, वृक्षों के पद तल चूमती हुई, पागल बनी हुई सागर में सदा सर्वदा के लिये समा जाती है। हृदय कहता है, पिता जी का एक एक शब्द सत्य है, बुद्धि कहती है, गुरुदेव जो कहते हैं वही ठीक है। परन्तु कौन ठीक है यह मैं अब तक न समझ सका। भेद प्रत्यक्ष है पर माध्यम मान लेने पर भेद कहाँ रह जाता है और माध्यम ? हृदय की हर धड़कन उसी का तो नाम ले रही है। पग पग पर यह आकर्षण उसी का तो है, वह उसमें है और सब उसमें हैं, सब उसके हैं वह सबका है, यही तो कहते हैं पिता जी ! और गुरुदेव ! वे कहते हैं केवल सब उसके हैं, सब उसमें हैं। इकाई से समाज और समाज पर इकाई यह

गुरुदेव का मत है। परन्तु पिता जी ! इकाई पर समाज और समाज पर सबका अधिकार बताते हैं। एक ओर एकाधिकार, दूसरी ओर समानाधिकार। एकाधिकार में सबको स्थान नहीं और समानाधिकार में एकाधिकार भी सुरक्षित है। परन्तु देखता हूं व्यक्ति समाज पर अधिकार पाने की चेष्टा में रत है। सब पाना चाहते हैं, कोई मांग कर, कोई छीन कर, कोई चोरी से, कोई छल से, कोई बल से, सब पाना ही चाहते हैं, देना कोई नहीं चाहता, महान् अन्धेर है। गुरू जी सूर्य का प्रकाश ही देखना चाहते हैं, उसके पीछे चलनेवाला अन्धकार उन्हें अच्छा नहीं लगता, और पिता जी, उस अन्धकार को भी सूर्य का ही रूप मानते हैं, इसलिए प्रकाश और अन्धकार की तुलना न करके केवल सूर्य को ही देखते हैं। विषम परिस्थिति, चारों ओर निराशा, कोई केवल वाह्य देखता है कोई केवल अन्तर, दोनों को मिलाकर कोई नहीं देखना चाहता। अधिकार के लिये सब दौड़ रहे हैं पर किससे ? यह नहीं सोचते। जब सब कुछ अपना है तब फिर यह छीना झपटी क्यों ? इधर मृत्यु पुकार कर कहती है मैं आ रही हूं फिर भी उसकी ओर कोई नहीं देखता। ऐसा क्यों है ! आह ! चार दिन का जीवन ! फिर भी इतना मोह ?

बृहस्पति—पुत्र ? आज तुम उद्विग्न जान पड़ते हो ! क्या, अभी आ रहे हो ?

दधीचि—जी गुरुदेव ! प्रणाम ! आप और पिता जी के बीच जो विचारों की चौड़ी खाई है उसी पर विचार कर रहा था।

बृहस्पति—पगले ! चिन्ता क्या, सारी राहें मञ्जिल की सीमा छूकर स्वयं मञ्जिलें बन जाती हैं। उनकी भिन्नता केवल सीमा तक ही है।

दधीचि—मैं आपका आशय नहीं समझा। आपका यह पाप-पुण्य, ऊँच-नीच, राजा प्रजा, दुख-सुख, आदि पिता जी कुछ नहीं मानते, मैं कुछ भी नहीं समझ पा रहा हूँ।

बृहस्पति—वत्स ! एक दर्पण को हम दोनों ने दो ओर से देखा है। मैंने असीम को छूने की आशा में सीमित का ओर ध्यान नहीं दिया, व्यक्ति को समाज के ऊपर शासक माना, और तुम्हारे पिता जी ने समाज को व्यक्ति के ऊपर शासन करने का सङ्कल्प किया, पर हम दोनों ही असफल रहे।

दधीचि—इस असफलता का कारण ?

बृहस्पति—मेरी ग्रहण की नीति। मैंने संसार को तुलनात्मक दृष्टि से देखा। किन्तु वह मेरी भूल थी। प्रत्येक वाह्य का अन्तर अवश्य है, और अन्तर का बाह्य अवश्य। सब कुछ सत्य है, न मिथ्या है न व्यर्थ ! केवल बुद्धि का भ्रम है।

दधीचि—पर इस भ्रम का कारण ?

बृहस्पति—मनुष्य के संस्कार ! जो मात्स्य न्याय के आधार पर चलने वाले समाज में उसके रक्त में कीटाणु बनाकर मिला दिये है ।

दधीचि—यह मात्स्य न्याय क्या है, तात !

बृहस्पति—वत्स ! प्रकृति अपना कार्य करने में कभी भी आलस्य नहीं करती, इसीलिये सृजन से विनाश और विनाश से सृजन चला करता है, इस चक्र को ठीक चलाने के लिये ही, मात्स्य न्याय की आवश्यकता हुई, सबल मत्स्य निर्बल मत्स्य को खाता है, इसी आधार पर मत्स्यावतार माना जाता है, सृष्टि के आदि में मनुष्य किसी को सताने की सोच भी नहीं सकता था, इसीलिये भूखों मरता था । जल में मछली को मछली खाते देख उसने भी आहार की खोज की ।

दधाचि —तो सबल को अधिकार है कि वह निर्बल को खा जाय ?

बृहस्पति—नहीं वत्स ! मात्स्य न्याय मनुष्य पर लागू करने की जो भूल हुई है, वह मनुष्य का कभी शान्ति से न बैठने देगी, मनुष्य ने बुद्धि पर गर्वित होना ही सीखा किन्तु जो कुछ उसकी बुद्धि ले सकी वह पशुओं से ही । और इसी कारण मनुष्य देवता बनने की धुन में पशु बन गया ।

दधीचि—मनुष्य विश्व की सर्वोपरि रचना ?

बृहस्पति—वत्स ! शूकर से भूमि खोदना भी सीख गया । कच्छप से शरीर की रक्षा के निमित्त गृह निर्माण, सिंह से भय उपजा कर शासन, हाथी द्वारा वृक्ष से फल तोड़ना, चीटी और मधु मक्षिका से सञ्चय, श्वान से दासत्व, सीखने वाला मनुष्य देवता कहलाकर भी पशु है, देवगुरु बनने की भूल में स्वीकार करता हूँ ।

दधीचि—तो फिर उचित क्या है । आपने भूल की है, यह सोचना भी पाप है ! गुरुदेव ! पाप क्या है ?

बृहस्पति—वत्स, मन का अकारण भय ! सङ्कोच ! जिस कार्य को प्रकट रूप से करने में मन को सङ्कोच हो वही पाप है ।

दधीचि—पर यह भय होता ही क्यो है । पाप पुण्य आप तो कहते हैं, केवल भ्रम है ।

बृहस्पति—मनुष्य ने प्रकृति के नियमों की अवहेलना कर जो अपने लिये नियम बनाये है उन्ही की रक्षा के लिये मनुष्य को पाप पुण्य की भी सृष्टि करनी पड़ी । यही कारण है जो कार्य एक स्थल पर पाप कहलाता है वही दूसरे स्थल पर पुण्य ।

दधीचि—गुरुदेव ! किस पथ का अनुसरण करूँ । कुछ भी नहीं समझ पा रहा हूँ,

सब कुछ सुन्दर है, शिव है, सत्य है, यह जानकर भी जीवन में मनुष्य सृष्टि के कण कण को क्यों नहीं अपना पाता ? प्रेम से रहकर मनुष्य, मनुष्य को जीने क्यों नहीं देता ?

बहस्पति—वत्स ! यह रहस्य विश्व नियन्ता को छोड़ कोई नहीं जानता । यह रहस्य विज्ञान की परिधि से भी बाहर है, एक सत्ता है, उसे चाहे प्रकृति कहो, चाहे पुरुष, जो स्वयं सृष्टि है और स्वय स्रष्टा है, और जिसकी इच्छा मात्र से ही संसार चल रहा है, उसका रहस्य जानकर कोई कहने मे समर्थ नहीं ।

दधीचि—किन्तु गुरुदेव ! पिता जी का विचार इससे भिन्न है । वे तो विश्व और विश्वम्भर में कोई भद नही मानते । वे तो कण कण में चेतन शक्ति मानते है । वे कहते है आम में बबूल क फल की कल्पना करना या विश्व को विश्वम्भर से विलग देखना समान है । एक अनेक का एक अंश है, और एक में अनेकों एक हैं। विभक्त होकर भी एक अनेक से विलग नही हो सकता । विलग होना ही विनाश है और योग ही जीवन । परमाणु अपने में एक इकाई है और विश्व स्वयं एक इकाई है—और परमाणु के बिना नहीं रह सकना और विश्व का आधार परमाणु है, दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता है ।

बृहस्पति—वे ठीक कहते हैं, वत्स ?

दधीचि—तो फिर !

बृहस्पति—दोनों के विचार तुम्हारे सामने हैं, समन्वय का पथ अपना कर जीवन में बढ़े चलो, तुमने आज मुझे एक नई राह दिखाई है, वत्स ! हमारी कल्पना को यदि यथार्थ का रूप दे सको ।

दधीचि—तात ! युगों से चले आने वाले अमिट संस्कार और यह क्षण भंगुर जीवन !

बृहस्पति—वत्स ! सागर की बूंद, रूप भले ही बदल ले, पर रहना उसे सागर में ही है । निराशा का कोई कारण ही नहीं । विनाश सृजन का ही एक अंग है । अकारण विनाश से विश्व को बचाया जा सकता है ।

दधीचि—कैसे गुरुदेव !

हस्पति—प्रेम और सद्भावना से । सुनो कोई गा रहा है । हृदय का परिवर्तन,... मानव का हृदय परिवर्तन ।

(नेपथ्य में गायन)

—गीत—

जीवन के दिन चार बावले, कह मत हिम्मत हार ।
एक गंवाया खेल कूद में, दूजा कर शृंगार ॥
तीजा खोया सोच सोच में, चौथा खड़ा दुआर ।
मत असार कह सोच बावले, जग में सब कुछ सार ॥
बीती ताहि बिसार सोच मत, आगे पड़ी संभार ।
जो कुछ तेरे पास लुटा दे, फिर झोली झलकार ॥
खाली झोली देख रीझता, तेरा साहूकार ।
मुट्ठी बांधे भेजा उसने, जाना हाथ पसार ॥
ना कुछ लेना ना कुछ देना, बातों का व्यापार ।
खड़ा खड़ा क्या ताक रहा है, मन के खोल किवार ॥
लूट सके तो लूट ले खुल के, लुटता यहीं दुलार ।

(राजभवन)

(ऊँचे सिंहासन पर महाराज इन्द्र विराजमान हैं, पार्श्व में कुबेर, यम, अग्नि, वरुण, बैठे हुए दृष्टिगोचर होते हैं। सम्मुख ही सोमपात्र रखा है और उर्वशी, रंभा, मेनका, एवं अलम्बुषा नृत्य कर रही हैं, चित्रसेन गाते हैं)

गीत

पीता है तो जी भर पी।
जीना है तो हँसकर जी।
सुख दुख की झञ्झावातों में,
गोरी या काली रातों में,
नित नयनों की बरसातों में,
डग मग पग से चलकर पी।
चञ्चल मन को थिर कर पी।
बस पीता जा तू पीता जा,
नयनों में भर कर रीता जा,
मर मर कर भी तू जीता जा,

गिर कर पी तू उठ कर पी।
गा कर पी मुस्का कर पी।

इतना पी जो तू खो जाये,
प्याला ही हाला हो जाये,
मधुशाला में जीवन छाये,

तू थम कर पी तू जमकर पी।
तन मन धन अरपन कर पी।

(गायन के पश्चात्)

इन्द्र—धन्य, चित्रसेन जी ! देवियों ! आपके सुन्दर गान एवं नृत्य से अत्यधिक प्रभावित हुआ हूं। कुबेर जी !

कुबेर—(अपने भारी भरकम शरीर तथा ऊँची तोंद को सँभालते हुए, चौंक कर) आज्ञा श्रीमान् !

इन्द्र—सङ्गीत और कला के पुजारियों का सम्मान होना ही चाहिये, सूखे नीरस बीहड़ जीवन-पथ पर खड़े इन सरस, कोमल, शीतल छाया, सघन वृक्षों और लताओं को अपने सञ्चित कोष स कुछ देकर सींचते चलो।

कुबेर—क्यों नहीं महाराज ; अपनी जय जयकार करने वालों पर तथा अपने मन बहलाने वालों पर हम सदा ही सदय रहे हैं, अभी उस दिन महाराज अग्निदेव के पुत्र जन्मोत्सव पर, तथा वरुण देव की कन्या के विवाह पर, एवं यमराज के उस विराट् भोज में हमने देवलोक के समस्त कलाकारों को आमन्त्रित र यथोचित सम्मान खिला पिला कर किया था।

इन्द्र—बस इतना ही ? इनके भोजन वस्त्र की चिन्ता का भार भी तो.....।

कुबेर—महाराज ! संसार के भोजन पालन का भार भगवान तो सँभालता ही है, उसके प्रबन्ध में टाँग अड़ाना उचित नहीं। क्यों न वरुण जी !

वरुण—हाँ. श्रीमान् ! इन कलाकारों के नेत्रों में मैंने स्वयं स्थान ग्रहण किया है, नेत्रों का जल पी कर ये जी सकते हैं क्यों अग्निदेव ?

अग्नि—क्यों नहीं। जो कुछ शेष रहता है, वह इनके हृदय में रहकर मैं पूर्ण करता रहता हूँ।

चित्रसेन—ठीक ही कह रहे हैं श्रीमान् ! हृदय की ज्वाला और नेत्रों का जल ही हमारी जीवन-निधि है, अन्यथा.....

कुबेर—भोजन वस्त्र का इन्हें स्वयं ध्यान नहीं रहता है फिर हम.....हम जो शान्ति-पूर्वक इनकी हृदय व्यथा गीतों के रूप में जो ये हमें सुनाते हैं सुन

लेते हैं वही क्या कम है ? हमारे पास तो आप जानते ही हैं महाराज, समय कहाँ ?

चित्रसेन—इस कृपा के लिये धन्यवाद ! किन्तु कुबेर जी यह न भूलिये कि हमें लास्य और ताण्डव दोनों ज्ञात हैं। हमारे आंसुओं में विश्व को डुबा देने की शक्ति है, और जब ये हमारे हृदय की ज्वाला बिजली बनकर अधर पर नाचती है तो विश्व के कोने कोने से ज्वाला-फूट पड़ती है। हमें हँसाना और रुलाना दोनों आता है।

उर्वशी—हाँ श्रीमान् ! यदि हमारे नूपुरों की झनकार से माँ मेदिनी मुस्कुरा पड़ती हैं तो हमारी वंकिम भ्रूभङ्गिमा पर उसे खप्पर लेकर कालिका भी बनना पड़ता है।

चित्रसेन—हम द्वार के भिक्षुक नहीं, वरन् वे ज्वालामुखी हैं जो अन्तर में आग छिपाकर ऊपर तृण और फूलों को उगने देते हैं। हम मनुष्य को देवता भी बना देते हैं और दैत्य भी। हम पानी में आग भी लगा सकते है और धधकती ज्वाला को अपने आँसुओं से बुझा भी सकते हैं।

कुबेर—इतना अभिमान !

चित्रसेन—यह अभिमान नहीं, कलाकार की सहज प्रकृति है। हम आकाश में फूल भी खिलाते है और.....

कुबेर—महाराज देख रहे हैं चित्रसेन सीमा से आगे बढ़ रहे हैं। हमारे ही टुकड़ों पर जीकर हम पर ही कटाक्ष।

चित्रसेन—यह कटाक्ष नहीं कुबेर जी ! यह आपकी बात का उत्तर है, हमारे पालन का भार भगवान पर है और आपका आपके हाथों में। आपके इस ऊँचे पेट ने न जाने कितने पेट पीठ से मिला दिये हैं। आपके इन वस्त्रों में जाने कितने निर्धनों की नसें धागे बन कर बुनी हुई हैं, जिनका लाल रक्त नीला हो चुका है, आपके इस भारी भरकम शरीर पर न जाने कितने कंकालों का माँस चढ़ा है।

कुबेर—हे नारायण ! तुम्हारी जिह्वा जल क्यों नहीं जाती। देख रहे हैं महाराज ! यह चित्रसेन मुझे कोस रहे हैं हरे ! हरे !! मेरा यह शरीर ! (इधर उधर हिलते हैं)

उर्वशी—चित्रसेन जी ही नहीं; सारी मानव जाति आपके ही गीत गा रही है, आप की ही दया से मनुष्य, मनुष्य को खाये जा रहा है।

कुबेर—तुम भी बोलने लगीं ? हमारे ही सङ्केतों पर नाचने वाली तुम यह भूल गई कि तुम हमारा खिलौना हो। हमारा मनोरञ्जन तुम्हारा कार्य्य है। क्षुद्र नारी.....

उर्वशी—नारी की क्षुद्रता यही है कि वह तुम्हारी माता है।

कुबेर—(क्रोध से काँप कर) उर्वशी !

उर्वशी—क्रोध संभालिये श्रीमान् ! शक्ति और वैभव के आगे मस्तक झुक सकता है, हृदय नहीं। पगला मन प्रेम के आगे ही नतमस्तक होता है। मेरे शरीर को खरीद सकते हैं, श्रीमान्। पर विचारों के लिये विश्व में कोई कारागार नहीं।

कुबेर—(क्रोध में उठते हैं पर पैर लडखड़ाते हैं) उर्वशी मुंह संभालो, नहीं.....

इन्द्र—बन्द करो यह अप्रिय प्रसङ्ग ! कुबेर जी ! आप तो क्रोध ले आये।

कुबेर—(हकलाते हुये) क्रोध, महाराज ! क्रोध तो अपने वश में सिखाया ही नहीं जाता, यह.....यह तो मैं.....क्रोध का अभिनय कर रहा था।

चित्रसेन—महाराज ! कुबेर जी सत्य कह रहे हैं। क्रोध करके गाली तो देनी ही पडती है किन्तु इन्हें 'द' शब्द से भी विराग है, देने के नाम पर ये घर का द्वार भी नहीं देते, इनके कोष में 'द' के स्थान पर केवल 'ल' लिखा है।

कुबेर—हाँ महाराज ! लल्ला को गोद मे ले लेता हूँ और दादा को द्वार के बाहर ही बैठाल रखता हूँ, अपने को "ला" शब्द से कुछ मोह सा हो गया है महाराज !

इन्द्र—क्यों नहीं कुबेर जी ! तुम्हारे 'ला' 'ला' के प्रेम से ही देवलोक जीवित है, अन्यथा यहाँ भी झोपड़े होते।

कुबेर—जी महाराज ! ग्रहण की भावना त्याग की भावना से कहीं अधिक अच्छी है। महाराज ? स्वर्ग स्वार्थ पर ही तो टिका है, परमार्थ भी तो स्वार्थ ही है श्रीमान् ! दान तो मनुष्य का काम है। देवता तो केवल लेने के ही अधिकारी है।

(आचार्य बृहस्पति का प्रवेश)

गुरुदेव—क्यों नहीं धनाधीश ! पृथ्वी से स्वर्ग निकाल संसार को दिखाकर पुनः पृथ्वीतल में सुख से सुला देना यह तुम्हारा कार्य है। सारे संसार में स्वर्ग की पूजा का प्रसार करना, आग लगाकर खड़े खड़े दूर से देखना यह तो आपका स्वभाव है। बन्द करो यह रास रंग देवेन्द्र ! इस प्रकार आठो प्रहर विलास में लिप्त रहना क्या शोभा देता है ?

अग्नि—हाँ, गुरुदेव ! असुरों से सन्धि होने के पश्चात् विजय-गर्व में रत हो हम अपना कर्तव्य भी भूल बैठे हैं, शक्ति ने हमें मदान्ध कर दिया है।

इन्द्र—क्या चिन्ता शेष है अग्निदेव ! गुरुदेव के रहते हुये किसी प्रकार की चिन्ता करना व्यर्थ है।

कुबेर—क्यों नहीं महाराज ! महापुरुषों की गति समाधि में ही है (पेट पर हाथ फेरना)

गुरुदेव—यह ठीक है किन्तु जब.....

इन्द्र—आप कुछ उद्विग्न दिखाई देते हैं गुरुदेव !

गुरुदेव—मेरी उद्विग्नता का कुछ कारण है देवेन्द्र ! मेरे शिष्य दधीचि को तो तुम जानते ही हो ?

इन्द्र—हाँ गुरुवर ! तो.....

गुरुदेव—आज वह अपने पिता के पास से लौटकर आया तो उसके प्रणाम के ढंग ने मुझे चौंका दिया। उसने मुझे दण्डवत् नहीं की वरन्.....

इन्द्र—उसका मस्तक उतार लेना होगा महाराज ! अशिष्टता का यह दण्ड भी सदय है गुरुदेव !

गुरुदेव—शान्त हो देवेन्द्र ! बात छोटी थी फिर भी कारण पूछने पर जो उत्तर उसने दिया, उससे मैं प्रभावित हुआ।

इन्द्र—क्या कहा उसने गुरुदेव ?

गुरुदेव—उसने जो कहा, वह यह है कि अब असुर लोक से ऊँच नीच की भावना का मूल स्रोत दण्डवत् शिष्टाचार के रूप में नहीं रहा। कोई भी ऐसा भाव असुरलोक में शेष नहीं जो भय, लज्जा, सङ्कोच, दासत्व और स्वामित्व का पोषक होकर मनुष्य को मनुष्य से दूर रखे।

इन्द्र—यह केवल मूर्खता है। आचार विहीन समाज कैसे स्थिर रह सकता है ? बड़े छोटे का भेद भला मिट सकता है ? गुरु शिष्य की परम्परा जो नहीं समझते वे मूर्ख हैं, शक्ति और बुद्धि का आदर अनिवार्य है।

गुरुदेव—यह मूर्खता नहीं है राजन् ? प्रजा भाव को अक्षुण्ण रख कर हमने जो मनुष्य से देवता और दैत्य की सृष्टि की उस पर यह कुठाराघात है। भेद नीति अपना कर ही हम मनुष्य पर देव बनकर शासन करते आ रहे हैं, यह हमारे देवत्व को खुली चुनौती है।

इन्द्र—मैं कुछ नहीं समझा गुरुदेव ?

गुरुदेव—प्रभुत्व के मद में समझने की शक्ति कहाँ ? एकाधिकार की एकान्त कामना और स्वयं को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने की जो होड़ हमने लगा रखी है, कण कण

में व्याप्त विश्वम्भर को दूर क्षीर सागर में बताकर मानवता को खण्डित करके प्रकृति पर केवल अत्याचार ही किया है।

इन्द्र—परन्तु ऐसा करके हमने कोई भूल नहीं की। जो श्रेष्ठ है उसकी श्रेष्ठता माननी ही पड़ेगी संसार को।

गुरुदेव—वह मेरी भूल थी, शस्त्र और शास्त्र की छाया में संसृति का अपमान करके हमने विश्वात्मा का अपमान किया है वह उचित नहीं! अब तक हम फूलों के लिये कांटे ही बो सके हैं। अमृत की खोज में केवल हलाहल ही पी सके हैं। हमने उस विष को खोजा है, जो हमें क्या हमारी सन्तानों को भी सुख से जीने न देगा। किन्तु आज भी यदि हम अपनी वह भूल सुधार लें.....

इन्द्र—हम कभी भूल कर सकते है मैं तो यह कभी सोच भी नहीं सकता।

गुरुदेव—अपनी जो भूल स्वीकार कर सकता है वही मनुष्य है। किन्तु तुम भूल कैसे स्वीकार कर सकते हो? तुम तो केवल देवता ही नहीं प्रत्युत देवेन्द्र हो।

अग्नि—राजन्! गुरुदेव सत्य कह रहे है. शस्त्र और शास्त्र की छाया में भले ही आज देवता कहला कर हम अभिवादन प्राप्त कर लें, किन्तु एक दिन सम्मान और वैभव की प्रतिस्पर्द्धा ही हमें खा जायेगी।

धर्मराज—हाँ महाराज! जब हमारे देवत्व का रहस्य हमारी सन्तति जानेगी, तो मनुष्य क्या पशु भी हमसे घृणा करेंगे। समय रहते यदि हम मनुष्य बन जायँ.....

इन्द्र—क्या कहा! मैं अपनी श्रेष्ठता का परित्याग कर दूँ? पूजा से मुंह मोड़ लूँ। यह तपस्या का फल त्याग कर समानता स्वीकार कर लूँ। नहीं! असम्भव!! जब प्रकृति स्वयं एक रस नहीं, फिर.....

गुरुदेव—पर प्रकृति का तुमने स्वयं कार्य करने ही कब दिया? तुमने तो प्रकृति से लडना ही सीखा है, सदैव उनकी ओर भयङ्कर दृष्टि से ही देखा है।

इन्द्र—सत्ता की होड़ प्रगति का रहस्य है, साम्य का प्रचार केवल रहस्य ही करेगा। महत्वाकांक्षा नष्ट होने पर संसार गतिहीन हो जावेगा। प्रगति ही जीवन है गुरुदेव!

गुरुदेव—यह न भूलो देवेन्द्र! सागर की प्रगतिशील बूंद आकाश को छूकर पहाड़ की चोटी पर जमकर, दो क्षण भले ही बैठ ले, पर उसका आश्रय सागर का तल ही है। श्मशान की शांति के लिये मैं नहीं कहता, किन्तु सरिता तट पर हरी भरी वनस्थली क्या शान्तिमय नही? समान अधिकार देकर देखो बढ़ती हुई जनसंख्या, परस्पर का सहयोग, सद्भावना, तुम्हारे प्रगतिपथ को सदैव प्रशस्त करेंगे।

इन्द्र—परन्तु अब यह सम्भव नहीं, मैं अब आगे बढ़कर पीछे नहीं लौट सकता।

अग्नि—श्रीमान् का यह भ्रम है। पीछे घूम कर जो देख लेते हैं और साथियों को साथ लेकर जो आगे बढ़ते हैं उनकी यात्रा बिना श्रम पूर्ण होती है। अकेले चलने में यात्रा की थकान अधिक होती है राजन्!

इन्द्र—चुप रहो, अग्निदेव, मेरे नाम पर अग्निदेव में हक पाकर तुम्हें इतना गर्व हो गया है कि मुझे उपदेश देने लगे।

कुबेर—देखिये न महाराज! यह सञ्चित कोष, यह रत्न भण्डार क्या, यों ही लुटा देने के लिए है! नहीं! नहीं!! महाराज! हम पीछे नहीं लौट सकते, देखिये न, यह मेरा आगे बढ़ा हुआ पेट आगे ही बढ़ने को कहता है, महाराज! इसे पीछे कैसे किया जा सकता है?

अग्नि—कुबेर जी? कुछ भगवान से भय कीजिये। आप तो पत्थर इकट्ठे करके स्वयं पत्थर हो गये हैं। क्या साथ लाये थे, क्या साथ ले जाओगे?

कुबेर—छिः छिः, हमें भगवान् का भय दिखाते हो। अरे महाराज हमारे भगवान खा पीकर सात आवरणों के भीतर सो रहे हैं। वे जग कर हमें भयभीत करने नहीं आयेंगे। समझे? क्या समझे अग्निदेव?

अग्नि—समझा और यह समझा कि जब तक आप हैं, संसार को शान्ति नहीं मिल सकती। और यह समझा कि वैभव के मतवाले विश्वनियन्ता को भी भुला सकते हैं, किन्तु स्मरण रखिये कुबेर जी! कि वह दिन भी दूर नहीं कि जिस दिन संसार आपको पहचान कर आपसे घृणा करेगा।

धर्मराज—हाँ कुबेर जी? यह न भूलिये। जो भगवान् महाराज बलि का त्रिलोकी का राज्य ले सकते हैं वे भला आपको कब छोड़ देंगे? देवेन्द्र!

इन्द्र—चुप रहो धर्मराज? मुझे किसी की मन्त्रणा की आवश्यकता नहीं। आप लोग जा सकते हैं, मेरा यह उन्नत मस्तक किसी को झुक नहीं सकता।

कुबेर—मैं भी जाऊँ न महाराज? मुझे तो ये साम्य की बातें भी भयानक लगती हैं।

गुरुदेव—क्यों न भयानक लगेंगी? संसार को शक्ति से तुम्हारा यह बढ़ा हुआ पेट जो छोटा हो जायेगा? तुम्हारे सारे स्वप्न जो भङ्ग हो जायेंगे!

कुबेर—आप भी मुझ पर बिगड़ते हैं तो लीजिये मैं यह चला।

गुरुदेव—मैं भी जाता हूँ देवेन्द्र! परन्तु इतना कहे जाता हूँ अब भी सोचो! समय को व्यर्थ न जाने दो। यह न भूलो देवेश, कि उन्नत मस्तक जिस प्रकाश से प्रभावित है उसी के प्रभाव से तुम्हारे पैर के नीचे कालिमा भी है, जो अन्त तक तुम्हारा साथ नहीं छोड़ेगी। तुम्हारी सारी शक्ति मिलकर अकेले दधीचि को भी परास्त नहीं कर सकती।

(सब लोग धीरे धीरे जाते हैं)

इन्द्र—महाराज ! मुझे भय न दिखाइये। ऐसे न जाने मैं कितने दधीचि देख चुका हूँ।

गुरुदेव—तुम्हारी इच्छा। परन्तु एक सूर्य का प्रकाश समस्त अन्धकार को मिटा देता है (जाते हैं)

इन्द्र—देखा जायगा।.....प्रतिहारी !

प्रतिहारी—आज्ञा श्रीमान् ?

इन्द्र—दधीचि को यहाँ उपस्थित करने की व्यवस्था करो।

प्रतिहारी—जो आज्ञा (जाना)

इन्द्र—(स्वगत) दधीचि ! दधीचि ! तुम मेरे फन्दे से बचकर कहाँ जाओगे ? तुम्हारी मृत्यु तुम्हें यहाँ खींच लाई है, परन्तु मैं तुम्हें खिला खिला कर मारूँगा। मूर्ख ! साम्य का प्रचार करेगा देवलोक में। हः हः हः। (प्रस्थान)

राज-पथ

(श्री कुबेर एक बड़ी सी थैली लिये हुये 'धनोदरम् धनोदरम्' गाते हुए चले आते हैं)

कुबेर—सञ्चय करो ! सञ्चय करो ! सञ्चय करो ! जैसे भी हो धन का सञ्चय करो ! संग्रह करो ! संग्रह करो ! संग्रह में ही विश्व-शान्ति का गूढ़ तत्व छिपा है। हाथ पैर मत हिलाओ ! बुद्धि से काम लो बस सब काम ठीक हो जायेगा। दिन रात सोते रहो ! थोड़ी देर बैठ कर सञ्चय की बात सोचो, सोचो और अवश्य सोचो ! सदैव क्षीर सागर में सोने वाले भगवान की लक्ष्मी दासी बनकर चरण दाबती है, पर सदैव कार्यरत ब्रह्मा को कौन पूजता हैं। इसीलिये मैं कहता हूँ कि यदि काम करोगे तो मैले हो जाओगे। मैल में कीटाणु रहते हैं, कीटाणु से रोग बढ़ता है और रोग से मृत्यु होती है, अत: मृत्यु से बचने के लिये काम से बचो। समझे ? क्या समझे ? बस सञ्चय करो ! परन्तु तुम कुछ नहीं समझे। तुम समझ ही नहीं सकते, यदि समझते तो मुझे बार बार समझाना न पड़ता। देखो भाग्य पर विश्वास करो। अजगर की भांति पड़े रहो। अवसर पाते ही हाथ मार लो, फिर चुपचाप पड़े रहो। काम करने वालों की खोपड़ी में कील गाड़ कर समझा

दो, खूंटा गाड़ कर बता दो कि भय्या सन्तोष करो। सन्तोष करो। सन्तोष से बढ़कर दूसरा धन नहीं। इस लोक में श्रम करो, कष्ट सहो, भूखे रहो, नङ्गे रहो, तुम्हें स्वर्ग में सुख मिलेगा। धन वालों को यहाँ सुख है पर शान्ति नहीं, निर्धन के पास कोई चिन्ता नहीं, अत: श्रम करने वालों! तुम धन चिन्ता से मुक्त रहो। यहां के कष्ट परलोक की राह सुगम करेंगे। समझे? क्या समझे? 'धनोदरम् धनोदरम्'।

(साधारण नागरिक के वेष में कुछ लोगों का प्रवेश)

दमड़ू—पाँ लागी महराज! पाँ लागी!

कुबेर—क्यों आये हो? क्या चाहते हो? निकलो यहाँ से। छूकर अपवित्र करोगे क्या?

दमड़ू—महराज! आपै कै सेवा खुसामद करत करत जुग बीत गे। पइसरम करत करत हाड़ घिस गे, मुलु तऊ अब हूँ तक तुहरे ऋन ते उऋन न हुइ पायेन।

कुबेर—बेईमान? लौटाने की नियत नहीं, कहता है उऋण न हो पाया, क्या करता है?

दमड़ू—गौवें चराइत है महराज! ग्रो उनहिन का दूधु बेंचित है, दिन रात उनहिन के चारा पानी मां लाग रहित है महराज तऊ पेट नहीं भरत। ग्रो न कुछ बचतै आय महराज! जो महराज अउर कुछ दया हुइ जात तौ.....

कुबेर—निकल यहाँ से। पहले का लिया तो अबतक लौटाया नहीं, कहता है कुछ बचत नहीं महराज! बचता कैसे नहीं, मैं यहीं पर बैठे बैठे कैसे एक एक के छह छह कर लेता हूँ, तुम कहते हो कुछ बचता नहीं, बचता कैसे नहीं, दुष्ट कहीं का मूर्ख! झूठा! बेईमान! चल हट यहाँ से।

दमड़ू—तुम्हार किरिया महराज! झूंठ नहीं बोलतेन महराज! घर मां चलिकै देख ल्याग्र, ग्रो चहै धरैतिन ते जाइकै पूंछ ल्याअ, लरिका बच्चा सब के सब भूंखन मरत हैं महराज! बड़ी बिपदा है, बचाग्रो महराज, का करी का न करी। तुम ही हमार सब अन्नदाता हौ महराज!

कुबेर—असुर हो न? अरे मूर्ख? कुछ मेल मिलाप भी जानता है। अरे! मेल से संसार चल रहा है। बेटा? दूध-पानी का मेल नहीं होने देते होगे। असुर हो न! अत: असुर होने का फल भोगो।

दमड़ू—हरे हरे महराज! दूध मां पानी? पुरबुले क पापन का अबै तक तौ भोगतेहे हन, अब का महराज! आगेव के जलम का बेगारी, या तौ हम ते ना होई, काहे ते कि पण्डित जी महराज बतावत रहैं कि.....

कुबेर—मूर्ख? पाखण्डी? पण्डित जी कहत रहैं, पण्डित जी की तना भीख मंगिहौ।

पण्डित लोग तो दुसरेन का सिच्छा देत हैं मुल कथा के चढ़ौना मां गीवन कै अस दीठ लगाये रहत हैं। जा भाग ! भाग ! हियाँ से तुम्हार काम ठीक न हुइ सकी।

दमड़ू—महराज ! दया करो ! हमार माई-बाप तुमहीं हो ? तुमहीं हमार अन्नदाता हो महराज ! अब तुम जउनै कइहो, तउनै करब। दया करो महराज ! दया करो !

कुबेर—अब आयो रस्ता मां। ब्वालो ! हमार कहा मनिहो कि ना मनिहो, हमार गुरुमन्तुर ल्यहो कि न ल्यहो ? जो तो लेंयका होय, समझ्यो ! तो रोज भिनसारे ते आइकै हमका एक लोटा बढ़िया निपनियाँ दूध देउतन मां चढ़ै लाइक औ दुइ रुपइया कल्दार नगः करो, यहै हमार पूजा आय। तुहार सब के सब हरहा आज ते हमार हुइगे। ब्वालो मंजूर है कि नहीं ?

दमड़ू—अरे राम राम, महराज ! तुम, औ तुम्हार कहा, भला मंजूर ककस न होई महराज ! सब मंजूर है।

कुबेर—तो लेव (कुछ रुपये देकर) एक दुकान दूधै कै खोल लेव, दूध का दुहिकै पहिले वहिकै नेनू निकासो। औ फिरि वहिमां पानी मिलाय कै वहिका अलग राखो। द्याखो बेटा ! आज कल मेलै ते काम चलत है, जो कोऊ ट्वाकै, तो कहि दीन्हेव, कि चारा का बड़ा अकालु है, बूसा खवाय पियाय कै जइसिउ कइसिउ गऊ माता कै सेवा करत हन। बिना पानी कै सानी लागे, गैयां बूसा नहीं खातीं औ पानी ते दूध पातर हुइ जात है। समझेव। का समझेव !

दमड़ू—औ चारा महराज !

कुबेर—अरे ! तुम्हें चारा कै कोन चिन्ता, यहि कै चिन्ता तो भगवान करत हैं, हें हें.....मूरख ! इतरो नही जनतेव। अरे मूरख ! तुइ दूध कै चिन्ता कर, चारे की चिन्ता मां कहें दुबरान जात हौ। औ जो मन होय तो रात मां गाइन का ख्यातन मां छोड़ि द्यावा करो औ दिन मां खुली रहुनियाँ मां छोड़ि द्यावा करो, उइं खुदै पेट भरि लइहैं।

दमड़ू—अउर महराज ! जिनका नुकसान होई, उइं तो हमार जान लै लइहैं।

कुबेर—छि:! छि:!! बड़ा मूर्ख है, बेटा! दुइ बातें तुम्हें सुनाये देत हन तो कउन तुहार कुछ लइ लीन। स्वारथु पाय कै गदहो का मामा कहें का परत है। या कुछ खराब बात थोरी आय। समझेव. का समझेव !

दमड़ू—हम सब समझेन महराज। (स्वगत) वाहरे पेटूमल ? कुबेर महराज ? तुम्हार जय होय।

कुबेर—(दूसरे से) कौन हौ तुम, कहे आये हौ ? रूपे से तौ अस मालुम परत हौ कि मानौ देउता हौ, बतावौ तौ का नावँ है तुहार। जल्दी ब्यालौना, हमरे इत्ता समय कहाँ.....

पिण्डू—महराज ! म्वाँर नाँव पिड़वा है, औ मोरे बाप का नाँव झण्डुवा औ वहिके बाप का नाँव चण्डुवा औ वहिके बाप का नाँव भटक भण्डुवा और.....

कुबेर—अरे बस कर भटकभण्डुवा, ह्याँ मोहि का पिण्डा नहीं पारें कायँ, काम बताव काम, का करत्था।

पिण्डू—महराज ! अनाजे का व्योपार करत हौं, रात दिन मतबल मान लीन गा यही खटर पटर माँ लाग रहत हौं। तये कतौं मुस्किलन मतबल मान लीन गा ते प्याट भर पावत हौं द्याखौ महराज ! (ऊँची तोंद दिखलाता है)।

कुबेर—अरे मूरुख ! पेट भरें खातिर ह्वात तौ भगवान पथरै न धर देत, भगवान तौ पेट का हिरदें के तरे कइ कै बड़ी भूल कीन हइन, जो हिरदें के तरे प्याट बनायेन। जो तौ प्याट का हिरदें के तरे कइलेत हीं, उइ तौ भैया भूंखन मरत हीं। औ जो कोऊ ऊपर कइ लेत हीं उइ तौ पूर पट्ट देउतै आयँ। समझे कुछ, काअ समझे। ऐ.....।

पिण्डू—कुछ नहीं समझ्यों महराज ! उइ तौ दादा जी जऊँ मतबल मान लीन गा, जो आय सो कि का नाँव ते समझत रहें तौ भगवान कै का नाँव है कि अस कुछ मर्जी कि वई न रहे नहीं ता मतबल जो है सो का कहत्थीं कि उई तौ बतावत रहत गे हैं कि जो आय सो का नाँव ते कि ज्यहि का लइ लीन वहिका फिर मतबल या है कि दीन ना। औ दइ कै मंगबौ न कीन्ह्या। सो तौ महराज जो आय सो हम तबै नहीं मानो आय सो अब का नाँव ते काहे कि भुगतित है। स्वाँचत हन कि कुछ समझ लेई पै बात का है कि मतबल याक है कि समुझ माँ कुछ कम चढ़त है सो जो है सो आपे कुछ समझाय द्याअ।

कुबेर—तौ तैं का कीन्हें, अपने बाप के पइसा का धरमखाते मां लगाय दीन्हें काअ।

पिण्डू—महराज ! अपने साथिन का दइ दीन है तौ फिरि जो है सो का नांव ते या बात याक है कि फिर मतबल मान लीन गा कि मांगो नही। औ जेहि ते रिन लीन है वहिका फिर जो आय सो काअ कहत हैं कि मतबल याक या कि फिर द्याबौ नहीं भयेन। पै आखिर माँ धरमराज हमते तौ सबका देवाय दीन्हेंन। यहि ते जो आय सो मतबल मान लीन गा कि हम गरीब हुइ गयेन तबै ते का नाँव ते का अ कहत हीं कि जो आय सो हम अपन अनाज का व्योपार कइ लीन।

कुबेर—हरे ! हरे ! तैं तो बड़ा मूरुख निकरे भाय। तुम तौ देउतन कै साधारन ते

साधारन याक बात है कि नियमो तक नहीं जनत्या। देउतन के कोष मां तो देव लिखो हो नहीं, ग्रो जो देहि हीं का परो तो सब देवाला निकार कै। हाय राम ! राम ! तुम तो सबै कुछ लुटाय दीन्ह्यों। हे महतारी लछिमिनियां देवी !! ईं गरीबन माँ दया करु।

पिण्डू—पं महराज ! जो ग्राय सो हमार तो उद्धार करो।

कुबेर—उद्धार करो ? उद्धार करो, अब ग्रपन खोपरी करी। देउता बनिउ कै ज्वारब न सिख पाये तो ग्रब का करिहैं, तैं तो अब राच्छस बनि है राच्छस।

पिण्डू—(रोकर) ग्ररे महराज ! तो जो ग्राय सो का नाँव ते हमें बचाग्रो, हमें राच्छसु ना बनाग्रो।

कुबेर—बेटा ! मोंहीं तोहि पर दया ग्रावत ही। जा; ग्राजुइते ग्रनाज का जोरु। ग्रो जइसे भगवान छीरसागर मां सांप की सय्या माँ स्वावत हीं वैसे तुम हूँ अनाजे का छिपाय कै सांप बनि कै बैठि जाव।

पिण्डू—यहि ते का होई महराज ?

कुबेर—अरे होई का ग्र। मैं लड़ाई का हुकुमु द्यात हौं। बस फिर का है, तोरे तो पौ बारा हैं तोरै तो चांदी है पिण्डुवा। मनमानी भाव मां बेंचेस। ग्रऊ सुन ! देख दुइ तान के बांट राखति हा न, देयँ के ग्रोर, ग्रो लेयँ के ग्रउर।

पिण्डू—ना महराज ! मैं तो याकै तान के राखत हौ।

कुबेर—अरे मूरुख ! जा भाग ह्यां ते। जो तो लेयँ बाले बाँटन माँ तनिक ज्यादा ग्रोर देयँ वालेन मां तनिक कम नहीं राखत ग्रायँ, ग्रो जो अनाजे मां कूरा नहीं डारत ग्रायँ उनका तो सत्यानास जानौ, अरे राम ! राम ! तैं अबै इतरो नहीं जनते रे ! कतौं के गँवार।

पिण्डू—तब तो महराज ! मतबल मान लीन गा कि जो है सो हम यो सब कइ ल्याब ग्रो कोहू ते बतावैं का निहाय, ग्रब तो अनाज चोराय राखब ग्रो छोट बड़े दोनों तान के बाँट राखब। ल्याब ज्यादा ग्रो द्याब कम। तब हीं तो काम चली। बस तुम्हार दाया माया भर बनी रहै।

कुबेर—ग्रच्छा कान पकड़ ग्रो जा फिर ते ग्रब कतौं अस भूल न कीन्हेस बेटा—ब्योपार करै मां सच्ची ब्रोलबै अपने ऊपर आफत का म्वाल लेब ग्राय, ले जा ग्रो काम सँभार ग्रो बेटा मतबल मान लीन गा कि जो आय सो (मन्द मुस्कुराहट पूर्वक) चौगुने ते कम न लउटायेस। समझे का समझे, मतबल मान लीन गा कि जो आय सो।

झगड़ू—जय होय सरकार कै, कुबेर दादा ग्रो कुबेर बाबा !

कुबेर—कु आय, का चहत हा, कुबेर दादा, कुबेर बाबा !

झगड़ू—महराज घिउ का बेवपारी झगड़वा अहूँ, बड़ी मेहनत किह्यों पर पेटु नहीं भरत महराज ! कुछ उपाय बताओ कुबेर दादा !

कुबेर—अच्छा ! तहूँ मोंजान मेल-जोल ते डेरात हा, जा, जा, आज काल के नउ-सिखिया वैज्ञानिकन ते पूंछ ले उइँ सब मिलाउब बताय देहें। हँ हँ हँ (हँसी) द्याखो तौ घिउ का ब्योपारी औ भूँखन मरत है। जा.....हाँ.....जा।

झगड़ू—(एक ओर खड़ा हो जाता है) हा ओ सरकार !

बगड़ू शाह—(ये मारवाड़ी सेठों की भांति वस्त्र पहिने हैं) जे हो महराज ! जे हो।

कुबेर—बोलो ! बोलो ! तुम भी बोलो ! अरे अभागा ! तुम्हारे दो पैसे भर की भी बुद्धि नहीं हैं। बुद्धि से काम लो, संग्रह पर ध्यान दो। कौन हो तुम ?

बगड़ूशाह—महराज ! कपड़ो बेंचूं हूँ। पण बचै कीं कोनी। मरा जावां हाँ।

कुबेर—शब कपड़ा लगाने बैठतो होगो, थे समझो को नी। सच्चा बणो हो, इयाँ कियाँ बेवपार हो सी।

बगड़ूशाह—समझूं तो घणों महराज ! पण महराज ? धरमराज के मारे कीं जकोनी कर सकूं। जे भाव वे बतावां हाँ, उणींज भावा माँ कपड़ो बेंचणों पड़ो है, महराज ! पाठशाला माँ पढ़ो हूँ। चठे !.....।

कुबेर—(हँसकर) महरी पाठशाला माँ शब कुछ शिखाओ जाए है। थे बैठ्या बैठ्या के भाड़ झोंकता र्‌या। जो संसार को छोटोशो नेम भी थाँकी समुझि में ना आयो। पाठशाला माँ माँग-पूर्ती को नी पढ़ी ! अरे बावला ? भगवाण एक है और भगत अणेक। याही मारे भगवाण छिपो र्‌हे। जे भगवाण का चावाँ वे ई जे भेंट चढ़ावाँ हाँ। कपड़े कूं भगवाण बणा दे। भगवाण। छिपा रक्ख। भगत आवेंगा, भेंट चढ़ावांगा, जद जे घड़ी भेंट लावे, बाई ने भगवाण को दर्शण करा देणां ? समझ्या।

बगड़शाह—समझ्यो ! मराज ! समझ्यो !

कुबेर—के समझ्यो !

बगड़ूशाह—यो समझ्यो मराज !—कि जद कोई गाहक आवे तौ कह देणो, कपड़ो हई को नी। जद भरपूर दाम दे तो वाको दे देणो।

कुबेर—ठीक समझ्यो बेटा ! ठीक समझ्यो।

चुञ्चक—महाराज ? मेरी भी सुधि लीजिये।

कुबेर—तुम कौन हो ?

चुञ्चक—महाराज ! मैंने अपना सारा द्रव्य और समय धर्मराज के बनाये नियमों के अध्ययन में नष्ट कर दिया। सोचा था धर्मराज को न्याय में सहायता दूँगा। परन्तु.....

कुबेर—देखता हूँ, तुमने केवल द्रव्य और समय ही नहीं अपितु अपना सारा स्वास्थ्य भी अध्ययन में नष्ट कर दिया। हाँ तो तुम्हें अभी देवत्व प्राप्त हुआ या नहीं।

चुञ्चक—जी नहीं महाराज !

कुबेर—बच्चा। धर्मराज के नियम ही ऐसे हैं जिनका पालन किया ही नहीं जा सकता। और जो पालन करता है वह मरता है, तुम ऐसा प्रबन्ध करो कि धर्मराज के नियम मोम की नाक बन जायँ, जिधर चाहो उधर घुमाओ। समझे क्या समझे ? जाओ ! धर्मराज की सहायता की अपेक्षा इनकी सहायता करो। ये तुम्हारी सहायता करेंगे। (सबसे) ये—तुम्हारे काम आयेंगे। इनका ध्यान रखना। अच्छा जाओ। फिर आकर मुझे सूचना देना।

(एक विद्यार्थी का प्रवेश बाल बढ़े व कढ़े हुये, मूंछें मुड़ी हुईं, अत्यन्त दुर्बल शरीर, आखें गड्ढों में धंसी हुईं)

कुबेर—कौन हो जी ! तुम क्या चाहते हो ? क्यो आये हो ?

विद्यार्थी—(हकलाते हुये) म.....में.....में.....में..... विद्यार्थी हूँ। महाराज ! यहाँ के विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर रहा हूँ।

कुबेर—तो मुझसे क्या चाहते हो ?

विद्यार्थी—महाराज ! हम.....हमें परीक्षा भय से मुक्त कर दिया जाय। और अध्यापकों के लिए नियम बना दिया जाय कि वे हमें पूर्ण रूप से स्वतन्त्र रहने दें। महाराज ! असुरलोक से आये हुये विद्यार्थी हमसे कहीं अधिक हृष्ट पुष्ट और अध्ययनशील हैं, उनके आगे हमारी एक नहीं चलती।

कुबेर—हूँ ! समझा। यह बात है, अच्छा जाओ, मैं एक ऐसा प्रबन्ध कर दूँगा कि असुर लोग शिक्षा शुल्क ही न दे सकें, और न इस योग्य ही हो सकें कि उनके बालक तुम्हारा सामना करें। (क्रोध से) मूर्खो ! यदि तुम पढ़ नहीं सकते, तो क्या नकल भी नहीं कर सकते, परीक्षा भवन में प्रश्नों के उत्तर लिखकर नहीं लें जा सकते,। वस्त्रों पर लिखकर ले जाओ। पत्रों पर लिखकर ले जाओ, मैं अबकी महाराज से कहकर पाठ्य क्रम को और भी सरल करा दूँगा।

विद्यार्थी—(बहुत हकलाते हुये) और महाराज, पढ़ने के पश्चात् हमारे लिये कार्य !

कुबेर—कार्य ! कार्य की चिन्ता तुम क्यों करते हो, शासन का सारा अधिकार देवताओं के हाथ में है।

विद्यार्थी—और महाराज ! हमारी योग्यता।

कुबेर—छि: पूछता है योग्यता को, जब प्रबन्ध देवताओं के हाथ में है। देवता होना स्वयं सबसे बड़ी योग्यता है। जाओ.....।.....

(विद्यार्थी जाता है)

कुबेर—अरे भाई लो सुनो।

— गीत —

जगत में धन सञ्चय ही सार।
हाथ मले क्यों, क्यों पछताये, कर काला व्यापार।
लेने के तू बाँट बढ़ा ले, देने के कम कर ले।
कोई भूखों मरे बला से, तू भर ले भण्डार ॥जगत०॥१॥
वैद्य अगर तू, बिना दक्षिणा, मत करना उपचार।
रोगी मरे तुझे क्या चिन्ता, मरना है इक बार ॥जगत०॥२॥
क्षीर नीर का प्रेम बावले, जाने सब संसार।
मेल मिलावट से क्यों डरता, यह तो है व्यवहार ॥जगत०॥३॥
आज जोड़ तू छोड़ दे कल पर, अपना धर्म विचार।
जैसे भी हो लूट, दाँव से, कर काला बाजार ॥जगत०॥४॥
तू अधिकारी काम न करना, बातों की भरमार।
वेतन से भी कई गुना तू, भत्ता ले फटकार ॥जगत०॥५॥

सब—महाराज ! अपनी पूजा तो कर लेनें दीजिये।

कुबेर—(हंसकर) अरें भाई ! मेरी पूजा ! मुझें पूजा की आवश्यकता नहीं। मैं तो संसार की कल्याण कामना—करता हूँ.....मुझे.....

(सब मिलकर कुबेर को ऊपर उठाकर लें जाते हैं)

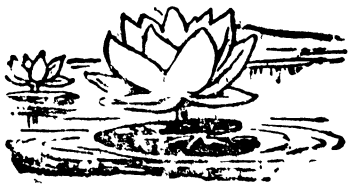

[अङ्क प्रथम दृश्य सप्तम]

राजभवन

(महाराज इन्द्र व्याकुल भाव से टहलते हैं और स्वयं ही कह उठते हैं)

इन्द्र—एक अबोध युवक ! उसका यह साहस कि यहाँ देवलोक में आकर मेरे ही विरुद्ध आवाज उठाये। मेरे आदर्शों, मेरे सिद्धान्तों और मेरे द्वारा बनाये विधानों की खिल्ली उड़ाये। प्रेम, अहिंसा, सत्य, मूर्ख दधीचि ! तू नहीं जानता कि ये आदर्श हो सकते हैं। पर इन पर चला नहीं जा सका। पागल कहीं का ? जब हाथ में पाँच उँगली बराबर नहीं तो यह विश्व कैसे बराबर हो सकता है।

दधीचि—(सविनय) हो सकते हैं, विश्व में सब बराबर हो सकते हैं राजन् ! असम्भव कुछ भी नहीं। पाँचों उँगलियों में समान-चेतनता है, एक सी पीड़ा का अनुभव होता है। इस दृष्टि से पाँचों उँगलियाँ एक समान हैं, किसे छोटी कहा जाये, और किसे बड़ी ? आकाश और धरा क्षितिज में एक हो जाते हैं।

इन्द्र—कौन ? ओहो ! तो तुम्हीं दधीचि हो। समझा, अबोध युवक ! आकाश में असंख्य तारों के बीच अकेला चन्द्र है। बन में सहस्रों पशुओं के मध्य में अकेला

सिंह गर्जन करता है। पक्षियों का राजा गरुड़ है, और समस्त विश्व की शक्ति मेरी मुट्ठी में है।

दधीचि—हो सकता है महराज! किन्तु यह न भूलिये कि पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्र भले ही तारों की ज्योति मन्द कर ले किन्तु अमावस्या की रात्रि में उसका अस्त हो ही जाता है और उस समय तारे ही हँसते हैं। सूर्य रात्रि के अञ्चल में मुंह छिपाकर रोता है। गरुड़ की पीठ पर त्रिलोकी का भार लेकर त्रिभुवन नाथ बैठे हैं। सिंह की लाश पर गीदड़ हँसता है। जन्म-मृत्यु के किनारों के बीच सबकी जीवन नौका बहती है फिर भेद कैसा?

इन्द्र—भोले युवक! तुम्हारे मुंह से यह कुतर्क शोभा नहीं देता। जानते हो, किससे बातें कर रहे हो। संसार में समानता होती तो शक्ति और बुद्धि के आगे दौर्बल्य मस्तक न झुकाता। देखो! सत्ता के आगे जनता आँचल पसारे खड़ी है। रात्रि, भगवान भास्कर की एक किरण पाने के लिए आकाश को रक्त के आँसुओं से रंग देती है। सागर चन्द्र को पाने के लिए आकाश तक महाज्वार बन कर हाहाकार करता है। हिमालय की चोटी से सर टकरा कर झञ्झा व्यर्थ लौटता है। कौन किस की चिन्ता करता है। पराई चिन्ता मूर्खता है।

दधीचि—यह आपका भ्रम है, परस्पर के प्रेम से ये नक्षत्र आकाश में ठहरे हैं। चन्द्रमा पूर्णिमा में कोमल रुपहली उंगलियों से गुदगुदाता है, समुद्र प्रेम पाकर ऊपर आता है। हिमालय की चोटी गलकर सागर तल में पहुचती है, और पवन के गले लग कर आकाश में घटा बनकर नाचती है। मदान्ध सत्ता जागृत जनता के आगे घुटने टेकती है। राजन्! धूल में फूल खिलते हैं और फूल ही धूल बनता है। दाना मिटकर मिट्टी कहलाता है और मिट्टी स्वय दाना बनती है। पानी कलेजे मे आग दबाये है और आग, पानी से हृदय की ज्वाला शान्त कर रहा है। कण कण में अनुराग भरा है। प्रेम स्वयं परमात्मा है।

इन्द्र—तुम तर्क अच्छा कर सकते हो, पर प्रेम करना सहज नही है युवक!

दधीचि—देवेन्द्र! प्रेम ही जीवन है;

इन्द्र—तर्क से हम प्रभावित हुये, पर युवक! जहाँ पर हम खड़े हैं वहां से नीचे उतरना सम्भव नहीं! हां, हम तुम्हें वहाँ भी खड़ा कर सकते हैं, हमारे इस इन्द्रासन की वहाँ पर शोभा बढ़ेगी, लो यह आधा तुम्हारे लिये रिक्त है!

दधीचि—सन्तोष के आगे त्रैलोक्य का राज्य तुच्छ है, जहां सब न बैठ सकें वह स्थान मेरे लिये नहीं। मैं पथ का वह रज कण हूं जो ठोकर खाकर भी पथिक

का साथ नहीं छोड़ना चाहता। मैंने देना सीखा है, लेना नहीं।

इन्द्र—मुझे मित्र रूप में ही स्वीकार करना तो स्वीकार है ?

दधीचि—मुझे मृत्यु से भी प्रेम है।

इन्द्र—(स्वगत—कूटनीति का समाश्रयण करना चाहिये) दधीचि ! तुमने मुझे जीत लिया।

दधीचि—राजन् ? प्रेम में पराजय नहीं वहाँ तो विजय ही हंसती है।

इन्द्र—तो आओ ? मित्रता के चिन्ह स्वरूप मैं तुम्हें मधु विद्या सिखा दूँ। परन्तु यह विद्या सीखने से पहले एक वचन तुम्हें भी देना होगा।

दधीचि—वह क्या। महाराज ?

इन्द्र—यह कि फिर तुम मधु विद्या किसी को नहीं सिखाओगे। मधु का प्रयोग औषध के रूप में हो सकता है, पर मैं नहीं चाहता कि कोई इसका प्रयोग करे इसीलिये मैंने अश्विनीकुमारों को भी इसका प्रयोग नहीं बताया है यदि तुम बता दोगे तो मैं तुम्हारा मस्तक काट लूंगा, बोलो स्वीकार है।

दधीचि—राजन् ! अस्वीकार करने का कोई कारण भी तो नहीं, (एक ओर को) इतनी बड़ी वस्तु का इतना छोटा मूल्य। एक शीश देकर यदि करोड़ो प्राणों की रक्षा हो, तो इससे बढ़कर क्या है ! चलिये महाराज ?

इन्द्र—चलो ? (दोनो जाते हैं)

(इन्द्राणी का आगमन)

शची—हैं ? यहाँ तो कोई नहीं। दधीचि अभी यहाँ आये थे किन्तु कहाँ चले गये ? सारा देवलोक, जिनकी सेवा से मुग्ध हो रहा है, मैं उनका दर्शन भी न पा सकी। चलूं, देखूं, सम्भव है, महाराज उन्हें लेकर उद्यान की ओर गये हों।

(एक ओर शची जाती है, दूसरी ओर से इन्द्र आते हैं)

इन्द्र—इन्द्रासन की इतनी अवहेलना ! इतना अभिमान ! सन्तोष ! देखना है तेरा सन्तोष ! समझा आधा इन्द्रासन तुझको क्यों भाता है, तू तो पूर्ण सिंहासन प्राप्त करना चाहता है। पर मुझसे बच कर कहाँ जायेगा। मेरी मित्रता तेरे लिये काल बनेगी। कोई है ?

प्रतिहारी—(आकर) महाराज !

इन्द्र—जाओ और यथाशीघ्र कामदेव को बुलाने की सुव्यवस्था करो ?

(प्रतिहारी जो आज्ञा कह कर जाता है, इन्द्राणी का उसी समय प्रवेश)

शची—हैं ! आप यहाँ हैं, किन्तु यह क्या ? आज आपके मुखमण्डल पर चिन्ता की रेखायें कैसी ? क्या दासी कारण जान सकती है।

इन्द्र—हमारी चिन्ता का कारण जानना चाहती हो।

शची—महाराज ? स्त्री पति का म्लान मुख देखने की अपेक्षा मृत्यु का दर्शन अच्छा समझती है ।

इन्द्र—कदाचित् ऐसा ही होता, वाणी और कार्य में भिन्नता ही देखी जाती है ।

शची—महाराज को नारी के पहिचानने में भ्रम हुआ है, नारी का हृदय पत्थर है, जिस पर केवल पति की ही छाप लगती है और जो कभी भी नहीं मिटती । हो सकता है मैं आपकी सहायता न कर सकूं फिर भी कह कर हृदय का भार कुछ कम होता ही है स्वामी !

इन्द्र—मन की बात नारी से कह कर मूर्खों को प्राय: पश्चात्ताप करते देखा है, गोपनीय बात नारी से कदापि न कहनी चाहिये । ऐसा विद्वानों का मत है । नारी स्वभावत: चञ्चल होती है ।

शची—(हंसकर) होना ही चाहिये महाराज ! हृदय की चञ्चलता ही तो जीवन है और स्थिरता ही मृत्यु । बुद्धि का अस्थिर होना आवश्यक है । श्रीमान् ! गोपनीय बात सदैव ही एक पाप है और पाप से स्त्रियां सदैव दूर रहती हैं । (फिर हंसती हैं)

इन्द्र—(बिगड़ कर) महारानी ! असमय की हँसी अच्छी नहीं लगती । मैं इस समय एकान्त चाहता हूँ ।

शची—जो आज्ञा (चली जाती है ।)

(कामदेव का शुभागमन)

काम०—देवाधिदेव ! सेवक अभिवादन करता है । आज इस समय मेरे स्मरण करने का कारण श्रीमान् !

इन्द्र—एक आवश्यक कार्य ! सदैव की भांति दधीचि को सीधी राह पर लाना होगा ।

काम०—यों क्यों नहीं कहते महाराज ! कि सीधे मृत्यु के मुख में जाना होगा । महाराज आप यह क्या कह रहे हैं ? वह सत्यवादी दधीचि, जितेन्द्रिय दधीचि, परम शैव दधीचि । जिसके प्रेम में आज असुर लोक, देवलोक, नाग लोक का बच्चा बच्चा पागल हो रहा है । उसके साथ छल का अर्थ अपने प्राणों के साथ छल है । महाराज ! उसे सताने का विचार छोड़ दीजिये ।

इन्द्र—कामदेव ! मैंने तुम्हें यहां दधीचि की वन्दना के लिये नहीं बुलाया है ।

काम०—पर उसका कोई दोष ?

इन्द्र—दोष देखने और गिनाने का समय देवेन्द्र के पास नहीं, वह जिसे शत्रु समझता है उसे मिटा देना चाहता है ।

काम०—पर वह तो आपका मित्र है ।

इन्द्र—पागल तो नहीं हो गये कामदेव ! एक अनजान का निर्धन मित्र। देवेन्द्र का मित्र एक साधारण ब्रह्मचारी। छि: ! छि: !! वह मेरे सिंहासन पर दृष्टि लगाये बैठा है, और तुम उसे मेरा मित्र बताते हो।

काम०—शिव ! शिव ! शिव ! दधीचि के हृदय में सिंहासन की चाह ! यह आपका भ्रम है महाराज !

इन्द्र—हो सकता है, पर जब उसे जनता इतना चाहती है तो क्या वह मेरा सिंहासन उसे न सौंप देगी ? कामदेव ! शासक एक दूर्वादल को भी सिर उठाये नहीं देख सकता। उसे भी कुचलना होता है यही राजनीति है।

काम०—किन्तु अन्याय शासन की नींव हिला देता है। जनता सब कुछ सह सकती है पर अन्याय नहीं। दधीचि जैसे व्यक्ति को सताना उचित नहीं। उसे अपनी राह जाने दीजिये। उससे भय न कीजिये।

इन्द्र—इन्द्र के कानों को उपदेश गुरुमुख से ही अच्छा लगता है। आज्ञा का विरोध करने वाले से कैसा व्यवहार किया जावे, यह यमराज को भली भाँति विदित है। तुम अब जा सकते हो किन्तु हां ! अलंबुषा को साथ अवश्य ले लेना।

काम०—(डरते हुये) आज्ञा पालन करना ही होगा। शङ्कर ही रक्षा करें (प्रस्थान)

शची—(आकर) तो यह था महाराज की चिन्ता का विषय। इतना बड़ा षड़यन्त्र एक भोले अबोध युवक को मिटाने के लिये। दया कीजिये महाराज ! अभी तो उसे मित्र बनाये हुये देर नहीं हुई।

इन्द्र—फिर आ गई, महारानी ! शासन कार्य में हस्तक्षेप असह्य है। काँटे से काँटा निकालना शत्रु को मित्र बनाकर उसका नाश करना यह हम देवताओं की नीति है। यही राजनीति है।

शची—अभागी राजनीति ! यदि तेरे आँखें होतीं तो तू देखती कि तुझ पर कितने कोमल कुसुम चढ़ा दिये गये। कितनी राखियाँ हाथों में रोते रोते सदा के लिए सो गईं, कितना सुहाग सिन्दूर धूल में पड़ा अब तक बिलख रहा है। कितने बुढ़ापे ठोकर खाकर चूर चूर हो गये। पापिनी ! महत्वाकांक्षा ! तेरा विनाश हो ! आह !! तेरा बोया हुआ विषवृक्ष कब तक मनुष्य रक्त से सिंचता रहेगा।

इन्द्र—(चिल्लाकर) महारानी। !

शची—(पैरों पर गिरकर) लौटा लीजिये कामदेव को। क्या आपकी प्यास दूध और पानी या उन मदिरा को मीठी-कड़वी घूंटों से जिन्हें आप अब तक सोम, सुरा, अमृत मधु, कहकर पीते रहे हैं शान्त नहीं हुई ? आज यह रक्त की पिपासा जगी है ! यह क्या ?

इन्द्र—रक्त की लालिमा से ही प्रगति पथ का निर्माण होता है। युद्ध की बालिका का

नाम शान्ति है।

शची—क्षमा करो स्वामी ! युद्ध की बालिका का नाम शान्ति नहीं, किन्तु अराजकता है, फूट है, अकर्मण्यता और प्रतिहिंसा है।

इन्द्र—वीर प्रतिहिंसा से नहीं डरते। तुम यहाँ अश्रु बहाओ, मैं रक्त की धारा में स्नान करूँगा।

(तीव्र गति से प्रस्थान)

शची—चले गये ! जाओ ! पुरुषों ! मारना ही तुम्हारी वीरता है, क्योंकि तुम किसी को जन्म नहीं दे सकते। कदाचित् सन्तान को उदर में रखकर तुम अपने रक्त से पालते, तो तुम जानते कि वीरता क्या है ? पर तुम तो रक्त ही बहा सकते हो। क्यों ? क्योंकि विचारों में समता नहीं हत्यारे ! नृशंस ? पेट के लिए यह रक्तपात.....(मूर्च्छित हो जाती हैं)

(यवनिका पतन)

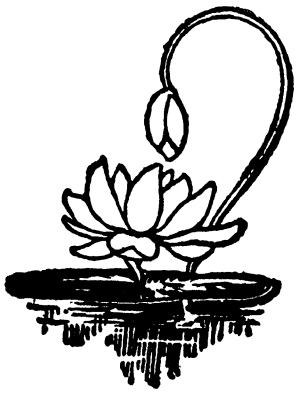

नदी तट

[अश्विनी कुमारों के साथ दधीचि का बातें करते हुये दृष्टिगोचर होना।)

दधीचि—आप अब मधु विद्या सीख गये अश्विनी कुमार जी ! औषध के रूप में इसका प्रयोग कीजिये। यह पुष्प और बनस्पति का सार मानव के कुछ काम आ सके तो धन्य ! आशा है कि इसे पाकर प्राणी रोग मुक्त होंगे।

इन्द्र—(आकर) प्राणी रोग मुक्त हों या न हों पर तुम संसार मुक्त अवश्य होगे। वचन के अनुसार मरने के लिये प्रस्तुत हो। तुम तो मधु-विद्या अश्विनी कुमारों को सिखा चुके हो न ?

दधीचि—(हंसकर) मैं प्रस्तुत हूँ देवेन्द्र ! यह औषध जिसका प्रयोग आप केवल वासनाओं को उत्तेजित करने में ही करते थे, अब जन साधारण को लाभ पहुंचायेगी। संसार का न जाने कितना इससे अश्विनीकुमारों के पास पहुंच कर उपकार होगा।

अश्विनी०—देवेन्द्र ! विश्व कल्याण की भावना से भङ्ग किया गया वचन दण्डनीय नहीं, आप शान्त हों।

(कामदेव का अन्य देवताओं के साथ प्रवेश)

काम०—देख रहे हो मित्रो ! जिसे तुम प्रेम की प्रतिमा कहते थे जो तुम्हारा आराध्यदेव था, उसका यह नीच कर्म । यहाँ नदी तट पर बैठकर मधुपान कर रहा है । देवलोक की शुद्धता नष्ट हो रही है । है तो असुरों के गुरु का पुत्र ही !

एक—नीच है !

दूसरा—पापी है ।

तीसरा—धूर्त है । देवेन्द्र इसे दण्ड दो यह मद्यपी है ।

अश्विनी०—बान्धव ! शान्त हो । दधीचि अपराधी नहीं, यदि कोई अपराधी है तो, मैं हूँ । दधीचि ने तो यह कार्य आपके लाभ के लिये ही किया है ।

इन्द्र—देवलोक में मधु का प्रयोग वर्जित है । हम यह अनाचार नहीं देख सकते । पापी ! मरने के लिए प्रस्तुत हो ।

दधीचि—महाराज ! जीवन का अन्त निश्चित है, फिर मृत्यु का भय कैसा । किन्तु खेद केवल इतना ही है कि आप मुझे अपना शत्रु समझते हैं । मानव अपना स्वयं मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु । सत्य के लिये प्राण देना मनुष्य का धर्म है, विश्व मे बुरा कुछ भी नहीं, बुरा है केवल हर वस्तु का बुरी भाँति प्रयोग । विष स्वयं अमृत है और अमृत भी केवल स्वार्थ के लिये प्रयुक्त होकर विष हो जाता है ! देवेन्द्र ! मैं मरने के लिये प्रस्तुत हूँ ।

(शची के साथ उर्वशी, रम्भा, अलम्बुषा का प्रवेश)

इन्द्र—यह मधु विष है और देवलोक मे इस विष का प्रयोग नही होगा ।

शची—(आकर) पर इस विष का प्रयोग दधीचि को किसने सिखाया । स्वामी शोक है कि.....

इन्द्र—महारानी ! तुम यहाँ भी ! क्या यही पतिव्रता का धर्म है ?

शची—पति के प्रत्येक कार्य का भार पत्नी पर है । स्वामी ! आपका यह कार्य उचित नही ।

दधीचि—महारानी ! शोक का कोई कारण नहीं । लोक रञ्जन के लिये एक शरीर क्या सौ शरीर भी निछावर है । देवेन्द्र शीघ्रता करें, मैं अपना वचन पालने को प्रस्तुत हूं ।

इन्द्र—(तलवार संभाल कर) सावधान !

बृहस्पति—(आकर) सावधान देवेन्द्र ? दधीचि पर तलवार न उठाना ! अन्यथा परिणाम भयंकर होगा । तुम दधीचि को नष्ट करना चाहते हो, इसलिए कि तुम्हें भय है कि कहीं वह तुम्हारा इन्द्रासन न छीन लें । पर, यह

तुम्हारी भूल है, तुम्हारा भ्रम है। दधीचि तुम्हारे इन्द्रासन पर थूकेगा भी नहीं। प्रेम और सेवा की इस प्रतिमा को भङ्ग करने का साहस न करो। दधीचि भले ही तुम्हें क्षमा कर दे, क्योंकि क्षमा ही उसका स्वभाव है किन्तु वे देखो! उधर खड़े हुये साक्षात शंकर अपने सेवक के अपराधी को कभी क्षमा न करेंगे।

इन्द्र—गुरुदेव! आपका यह उपदेश इस समय व्यर्थ है। दधीचि ने वचन भंग किया है, अपने वचन के अनुसार इसे अवश्य मारूंगा।

(इन्द्र तलवार चलाते हैं, उधर से एक कृषक बढ़कर तलवार पकड़ लेता है और कई कृषक आकर सब देवों को मारते हैं, इन्द्र भयभीत होते हैं, एक कोने पर खड़ी हुई अलम्बुषा प्रेमदृष्टि से दधीचि को देखती है, थोड़ी दूर पर भगवान त्रिशूलपाणि के दर्शन होते हैं परदा धीरे धीरे गिरता है)

[प्रथम अंक समाप्त]

[द्वितीय अङ्क प्रथम दृश्य]

(अलम्बुषा का शयन कक्ष)

अलम्बुषा शृङ्गार किये हुये एक सुन्दर पलंग पर लेटी स्वप्न देख रही है, स्वप्न में ही अनेक भाव आते हैं, मुख पर चिन्हित हो रहे हैं, क्षण भर में ही अकस्मात् चौंक कर उठ बैठती है।]

अलम्बुषा—(अर्द्ध जागृत) हे चले गये। कितने सुन्दर ! कितने सौम्य ! कितने प्रेम से वे मेरी ओर निहार रहे थे, मैं उनकी ओर बढ़ी, उन्होंने खिले कमल की भाँति अपनी बाँहें फैला दीं, मेरे नेत्र उन नेत्रों से मिलने भी न पाये कि झुक गये। उन्होंने जाड़े से ठिठुरते भिक्षमङ्गे के मैले अपवित्र हवा में उड़ते वस्त्र की भाँति मुझे समेट कर हृदय पर रखना चाहा कि तभी ! आह ! कितना मधुर ! कितना मादक स्वप्न था। पर अभागिनी ! तुझको वे स्वप्न में भी न अपना सके। अपने पाप की ओर देख अलम्बुषा। क्या तू उन्हें पा सकेगी उनका वह पावन प्रेम जो पृथ्वी के कण कण को प्राप्त है, तुझे भी मिल सकेगा। जो संसार का है क्या उसे अपना कर

केवल अपना बना सकोगी। जिसकी प्रथम दृष्टि पर अपना सर्वस्व हार बैठी है, उसके हृदय पर अधिकार पा सकोगी! तू एक पतिता नारी, जिसे किसी के इङ्गित पर ही जीवन भर नाचना है। तू उस पवित्रता के साकार रूप को प्राप्त करने की अभिलाषा कर रही है। महाराज इन्द्र की आज्ञा है कि उनको अपने चङ्गुल में फंसाऊँ उनका सुयश नष्ट करूँ। हायरी राजाज्ञा! परन्तु, अलम्बुषा! तुझे आज्ञा पालन करना ही होगा। वहाँ जाना ही होगा।

उर्वशी—कहाँ जाना होगा, अलम्बुषा!

अलम्बुषा—अपने हाथों अपने घर में आग लगाने। अपने आप अपनी चिता जलाने। दधीचि का सर्वनाश करने की आज्ञा मिली है दीदी!

उर्वशी—हाय रे सिंहासन का मोह! दधीचि के सम्मुख परास्त होकर भी उन्हें नष्ट करने की आशा देवेन्द्र भी न त्याग सके।

अलम्बुषा—दीदी! मुझे बचाइये! इस पाप से मेरी रक्षा कीजिये दीदी! मैं उनके सामने नाटक नहीं खेल सकती दीदी! उन्हें.....

उर्वशी—देखती हूँ अधिक स्वयं पशु बन गया है।

अलम्बुषा—आग पानी को छूकर जीवित नहीं रह सकती। पाप, पुण्य को छूने में सकुचता है, मैं उन्हें.....

उर्वशी—प्रेम करती है? पर पगली! अप्सराओं को प्रेम करने का अधिकार ही कहाँ? हम तो समाज के वे खिलौने हैं जिनको हृदय के स्थान पर पत्थर रखकर रहना पड़ता है, जिनसे जो चाहे वह खेले और तोड़ कर फेंक दे।

अलम्बुषा—क्यों? क्या हम नारी नहीं? हमारे वक्ष में हृदय नहीं, हृदय में ममता नहीं। माँ बनने की लालसा नहीं। समाज हमें नारी क्यों नहीं समझता दीदी?

उर्वशी—इसलिये कि समाज के पास कान है, आंखें नहीं; बुद्धि है, हृदय नहीं। हमने समाज को छोड़ हृदय की बात मानी।

अलम्बुषा—तो हृदय की बात मानना पाप है दीदी!

उर्वशी—पाप क्या है, यह समाज नहीं जानता? वह प्रकट को पाप कहता है और पाप को छिपा कर रखता है उसके आगे मस्तक झुकाता है जो उसे ठुकराता है, जो उसके आगे मस्तक झुकाता है उसे जीने भी नहीं देता। समाज उसका है जिसके हाथ में शक्ति है, जो हृदयहीन है! निर्मम है।

अलम्बुषा—ऐसा क्यों है दीदी!

उर्वशी—इसलिये कि समाज पर उनका अधिकार है, जो प्रकाश के छिपे अन्धकार को देखकर भी देखना नहीं चाहते, जो दीपक की लौ ऊपर कालिमा देखकर भी

केवल प्रकाश का विचार करते हैं, जो प्रत्यक्ष के लिये प्रमाण खोजते हैं और अप्रत्यक्ष पर विश्वास करते हैं। एकाधिकार की साधना से ओत-प्रोत पुरुष नहीं चाहता कि उसकी सम्पति पर कोई दृष्टि भी डाले। नारी को पुरुष अपनी सबसे बड़ी सम्पत्ति समझता है। उसके साथ न्याय करते समय वह प्रकृति को भी भूल जाता है।

अलम्बुषा—नारी के लिये बनाये गये नियम, पुरुष के लिये क्यों नहीं है दीदी !

उर्वशी—इसलिये कि नारी के ममता भरे हृदय ने समर्पण की भावना अपना कर सदा-सर्वदा के लियें अपनी पराजय स्वीकार कर ली है। और पराजित को भाग्य के नाम पर केवल आंसू बहाने का अधिकार है।

अलम्बुषा—तो यह पराजय, विजय में बदलनी होगी। अपमान के कड़वे घूंट, समाज ठोकरें और तिरस्कार सह कर जीने की अपेक्षा मृत्यु श्रेयष्कर है। संघर्ष ! दीदी ! संघर्ष ! मैं अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करूंगी। देखती हूं कि संघर्ष ही जीवन है।

उर्वशी—पागल लड़की, तेरे पांव के नीचे क्या है।

अलम्बुषा—मिट्टी है दीदी ! मिट्टी।

उर्वशी—कुछ सुना। क्या कह रहे हैं वे रज कण ? तू उस धरा की पुत्री है जो अपनी पीठ पर हल चलाने वाले को भी दो मुट्ठी अन्न देकर जीवित रखती है। और मरने के बाद अपनी गोद में समेट लेती है।

अलम्बुषा—मैं कुछ नहीं समझी दीदी।

उर्वशी—यही कि हम उस माता की ममता भरी बेटियां हैं, जिस पर आकाश दिन भर अंगारे बरसाता है, किन्तु जो फिर भी सन्ध्या में अपने हृदय के सारे द्वार खोल फूल बन कर मुस्कराती हुई उसका स्वागत करती है और तब आकाश की बरबस रस विभोर होकर हंसना पड़ता है।

अलम्बुषा—दीदी ! क्या पुरुष धरती माता के पुत्र नहीं ?

उर्वशी—हैं क्यों नहीं। पर पुरुष आकाश के समान झुकना नहीं चाहता धरा को ही धूल बनकर आकाश को छूना पडता है। पुरुष अपनी विजय पैरों से कुचलने में समझता है और नारी अपनी विजय किसी को मस्तक पर रखने में ही समझती है। नारी ममता है और पुरुष अधिकार। कालिका बन कर भी नारी मां है उसका ममत्व कोई नहीं छीन सकता। संघर्ष किससे ? संघर्ष के लिये पुरुष अकेला बहुत है, उसके लगाये रक्त के धब्बे माता मेदिनी प्रलय पर्यन्त भी धो सकेंगी, इसमें संशय है। आंसुओं से और अपने दूध से उन्हें धोती चलो। हमारी सार्थकता इसी में है।

अलम्बुषा—तो आप संघर्ष के लिये प्रस्तुत नहीं ?

उर्वशी—नहीं ! डूबने वाले के साथ डूब कर उसे नहीं बचाया जा सकता। संघर्ष के बाद पुरुष और नारी का जीवन क्या होगा ? यह तो मैं नहीं जानती, पर ममता मर जायगी, और साथ ही मनुजता भी। त्याग और प्रेम की मृत्यु हो जायगी। अलम्बुषा ? नारी की गोली पलकों में अपार शक्ति है, उसकी मुस्कान उसके करों की करबाल से संसार के लियें अधिक उपयोगी होगी। इतना निश्चय है।

अलम्बुषा—मेरा भी कर्तव्य स्थिर कर दो, दीदी ?

उर्वशी—फल की आशा भविष्य पर छोड़ दो, इन्द्र के भय से नारी का सहज रूप न छोड़ना।

अलम्बुषा—परन्तु दीदी ! (लज्जित होती है)

उर्वशी—समझी। पुरुष और नारी का आकर्षण स्वाभाविक है। तुम्हारी हार में भी जीत है और जीत तो जीत है ही। भगवान तुम्हें सफल करें, पर इतना ध्यान अवश्य रहे, कि दधीचि को कर्तव्य पथ से हटाने की चेष्टा न करना, हो सके तो पथ का श्रम कम करने के लिये ही, भरसक प्रयत्नशील रहना। तुम्हारा सहारा पाकर वे अपने पथ पर और भी अधिक बल से चल सकेंगे।

अलंबुषा—दीदी ! (उर्वशी के वक्ष-स्थल में मुँह छिपाती है)

उर्वशी—पगली ! (प्रेम विवश हो गीत गुनगुनाती है)

गीत

उर्वशी —प्रीतम के घर चली सखी री क्यों नयनों में पानी।
अलम्बुषा—प्रेम नगर की डगर कठिन है अनदेखी अनजानी ॥
उर्वशी —नेह भरे अन्तर में जलती मधुर मिलन की बाती।
है प्रकाश विश्वास प्रेम का क्यों मन मे सकुचाती ॥
फूल बनेंगे काँटे पथ के चल तो सही दिवानी।
प्रीतम के घर चली सखी री क्यों नयनों में पानी ॥
अलम्बुषा—भय है उस पावन प्रतिमा को छू न कलङ्क लगाऊँ।
पिय चरणों को पाते पाते कहीं न मैं खो जाऊँ ॥
उर्वशी —पावन नहीं अपावन होगा, तज मन की नादानी।
ललक पुलक मुस्कान बिछाकर कर पिय की अगवानी।
प्रीतम के घर चलो सखी री, क्यों नयनों में पानी ॥

[अङ्क द्वितीय दृश्य द्वितीय]

वन - पथ

[इन्द्र के व्यवहार पर दुखी दधीचि सोचते हुये आते हैं]

दधीचि—भूल है और अवश्य है, किन्तु भूल कहाँ है, कोई नहीं जानता। एक के अनेक परस्पर विरोधी क्यों ? सब भाग रहे हैं प्रगति का नाम लेकर, सिर पर पैर रखकर सब भाग रहे हैं। आगे वाला पीछे वालों को बढ़ने का आदेश देता हुआ स्वयं पथ पर पर्वत की भाँति अवश्य अड़ा खड़ा है। पीछे वाले धक्का देकर आगे भागने की धुन में लक्ष्य भी भूले हुये हैं। एक अज्ञात भय, आशङ्का, जिसका कोई प्रमाण नहीं, उसे सत्य मानकर मनुष्य, मनुष्य को खा लेना चाहता है। अमर बनने की अभिलाषा में मृत्यु का चिरन्तन सत्य एक दुःस्वप्न की भांति मनुष्य भूलने की चेष्टा कर रहा है। अधिकार और सम्मान की चाह में मद्यपी की भाँति डगमग चलता हुआ, मनुष्य, मनुष्यता को भूल गया है। घृणा, द्वेष, अकारण वैर को अपनाकर घाटे का यह व्यापार कितने दिन चलेगा ?

बृहस्पति—(आकर) वत्स ! तुम अभी तक यहीं हो ! नीच इन्द्र मेरे रोकने पर भी तुम्हें सतानें में रत है। मेरा विचार है कि तुम यहाँ से चले जाओ।

दधीचि—गुरुदेव ! आप ? यह कह रहे हैं ? साहस आज भयभीत हो रहा है। प्रकाश अन्धकार से डरकर भाग रहा है। यह क्या कह रहें हैं आप ? प्राण भय से कर्तव्य पथ से विमुख हो जाऊँ। नहीं गुरुदेव ? ऐसी आज्ञा न दीजिये।

बृहस्पति—निराशा मनुष्य को दुस्साहसी बना देती है। युगों से जलने वाली अग्नि क्यों कर शान्त होगी, मैं नही जानता। नीच इन्द्र तुम्हें पथ-भ्रष्ट करने के लिये सब कुछ कर सकता है। मैं जानता हूँ कि इन्द्रासन का मोह तुम्हें न डिगा सका, किन्तु वत्स.....

दधीचि—कहिये, कहिये ? कहते कहते रुक क्यों गये गुरुदेव !

बृहस्पति—वत्स ! मनुष्य सब कामनाओं पर विजय प्राप्त कर सकता है, किन्तु नारी के आकर्षण पर विजय पाना पुरुष के लिये यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। और नारी पुरुष के पतन का एक निश्चित पथ है।

दधीचि—गुरुदेव ! माता, भगिनी, पुत्री का रूप रखकर संसार में प्रकट होने वाली नारी पुरुष के पतन की सीढी असम्भव ! गुरुदेव ! असम्भव ! कही भूल अवश्य है। पुरुष और नारी के सहज आकर्षण को बन्धन में बाँध एकाधिकार की जो भूल पुरुष ने प्रकृति के आदि में की है, हो सकता है कि यह उसी का दुखद परिणाम हो। नारी पर स्वत्व की लालसा ने यदि नारी को पतन का मार्ग भी बना दिया तो उसमें नारी का दोष नहीं। दोष पुरुष का है, जिसने अपनी वासनाओं को स्वतन्त्र रखकर नारी को बन्धनों में डाल मानवता की जड़ पर ही कुठाराघात किया है, नारी विश्व का हृदय एवं पुरुष की शक्ति है। गुरुदेव ! नारी के बिना पुरुष अधूरा है। एक पहिये की गाड़ी चलना सम्भव नहीं। नारी भय घृणा एवं तिरस्कार के लिए नही है, माता की साकार प्रतिमा सदैव प्रणम्य है।

बृहस्पति—वत्स ! यह सब होते हुये भी नारी कर्म पथ की भी बाधा है। यह भी ध्रुव सत्य है।

दधीचि—गाड़ी के दो अनमेल पहिये चाल में बाधा अवश्य पहुँचाते है परन्तु गुण कर्म के अनुसार मिलते हुये स्वभाव वाले दो प्राणी जीवन पथ पर हँसते हँसते चलते हैं, एकाकी पथ पर चलने की अपेक्षा साथी पाकर पथ सरलता से पार हो जाता है।

बृहस्पति—मैं प्रसन्न हुआ। नीच इन्द्र का अचूक अस्त्र नारी है और वह भी पतिता। अब वह तुम्हारे सम्मुख आवेगा। सावधान ! दधीचि ! अपमान की ज्वाला में इन्द्र जल रहा है, मुझे विदित हुआ है कि अलम्बुषा द्वारा वह

तुम्हें अपमानित करना चाहता है । वत्स ! यह बैर और विद्वेष की अग्नि.....

दधीचि—तात ! हो सकता है आग, आग से न बुझे पर पानी उसे अवश्य बुझा सकता है, भृकुटि केवल अधर पर खेलती मुस्कान दूर कर सकती है। विश्व की यह वैराग्नि यदि मेरे प्रेमाश्रु जल से न बुझ सकी तो हृदय का रक्त देकर बुझाऊँगा ।

बृहस्पति—वत्स ! वायुमण्डल जब दूषित हो जाता है तो स्थान त्यागना ही श्रेयस्कर होता है । देवलोक में तुम्हारी बात कौन सुनेगा ?

दधीचि—वसन्त को बुलाने के लिये कोकिला गायेगी कोई सुने या न सुने । दूषित वायु को शुद्ध करने के लियें औषधियों को जलना पड़ता है, बिना त्याग सुधार सम्भव नहीं । मैं कुछ कर न सकूं तो मर तो सकूंगा । गुरुदेव ! मैनें अकेले चलना सीखा है ।

बृहस्पति—वत्स ! अशुभ वचन कहकर मेरी ममता पर आघात न करो ।

दधीचि—आपको इतना मोह ! वीतराग ! इस शरीर से इतना प्यार जो चिता की राख बनकर नवीन बासन्ती कोपलों की भाँति नवीन होता है ।

बृहस्पति—बेटा ! प्रवृत्ति की नींव पर ही निवृत्ति का मन्दिर खड़ा होता है, पाषाण के कठोर उर से ही शीतल जल का कोमल स्रोत फूट निकलता है । मोह बिना प्रेम सम्भव नहीं, अनुराग ही अपनी सीमा छूकर विराग बनता है, मैं भी मनुष्य हूं बेटा ! (दधीचि को कण्ठ से लगाते है) ।

दधीचि—तात ! मधुरता की अन्तिम सीमा का नाम ही कटुता है ।

बृहस्पति—तुम्हारे प्राण लेकर भी इन्द्र शान्त न हो सकेगा, इसमें संशय है । दैत्यों और देवताओं के बीच एक गहरी चौड़ी खाई है । वह पट नहीं सकती दधीचि !

दधीचि—और उस खाई को मैं अपनी अस्थियों से पाटूंगा गुरुदेव ! आप आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपनें कर्तव्यपालन में सफल हो सकूं । मुझ पर विश्वास कीजिये ।

बृहस्पति—तुम पर विश्वास करके मैं अपनी श्वासों का भी विश्वास खो बैठूंगा ।

दधीचि—मैं इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी न बनकर जीवन भर उनका मित्र बनने की चेष्टा करूंगा । मरकर भी उन्हें अपना सकूं और सच्ची राह दिखा सकूं ऐसा आशीर्वाद दीजिये गुरुदेव !

बृहस्पति—तुम अपनी साधना में सफल हो यही मेरी मंगल कामना है दधीचि ! (दधीचि को हृदय से लगाकर जाते हैं)

दधीचि—जाओ गुरुदेव ! आपका और पिता जी का सन्देश दधीचि घर घर

पहुँचायेगा। किन्तु क्या करूँ! एक ओर दीनता सूखी हड्डियों के भीतर भूख से आतुर चीत्कार कर रही है, दूसरी ओर वैभव समाज की पीठ पर शोषण की करवाल लिए खड़ा अट्टहास कर रहा है एक ओर दो का अन्तर मिटाया जा सकता है परन्तु एक और सौ का अन्तर मिट जायेगा और वह भी भाग्य के भरोसे, यह सोचना भी व्यर्थ है। ऊँचे ऊँचे आदर्श, बड़े बड़े सिद्धान्त, तर्क से सिद्ध करने के उपरान्त भी मानव अपना न सका, केवल मानवता उनसे खण्ड खण्ड ही हुई। विश्व से परे भी एक शक्ति है, ऐसा सोचकर जो विश्व को सुधारने की शक्ति रखते थे, दूर बनों में अपनी आत्मा का उद्धार करने में लगे रहे। क्या मैं भी वही करूँ? परन्तु, आह! बन में बैठकर आत्मचिन्तन से संसार में रहकर विश्वकल्याण चिन्तन कहीं अधिक कठिन है। फिर क्या करूँ! कहाँ जाऊँ!

अलम्बुषा—(आकर) उधर जिधर विश्व का कल्याण छिपा है, अपने कल्याण से विश्व कल्याण अधिक आवश्यक है।

दधीचि—तुम कौन हो रमणी? मुझे समय पर सन्मार्ग का निर्देशन करने वाली देवी! तुम कौन हो?

अलम्बुषा—एक अनाथा, समाज की ठोकरों से ठुकराई हुई, निष्ठुर नियति की सताई हुई पथ-भ्रष्टा एक अभागिनी नारी। परिचय देने को अब इससे अधिक कुछ भी शेष नहीं।

दधीचि—ठहरो रमणी! पथ पर चलते चलते गिर जाना पाप नहीं, पाप है चारों ओर पाप देखना, पतित से घृणा करना, माता के गौरवान्वित पद पर सुशोभित होने वाली नारी को घृणा की दृष्टि से देखने वाला पुरुष भले ही कापुरुषता का परिचय दे, पर नारी फिर भी नारी है, देव-प्रतिमा कीचड़ में गिरकर भी देव-प्रतिमा है।

अलम्बुषा—यह क्या कह रहे हो तपस्वी? नारी और मिट्टी के पात्र को एक बार प्रयुक्त होने पर अपवित्र मानने वाला पुरुष तुम्हारे इन शब्दों को सुनकर क्षुब्ध हो उठेगा तपस्वी!

दधीचि—दधीचि ने सत्य से डरना नहीं सीखा है। सत्य को अपनाना मेरा ध्येय है। पथ भूले को सीधी राह पर न लाकर जो उससे घृणा करता है, वह स्वयं पथ-भ्रष्ट है। संसार में पाप की सृष्टि मनुष्य ने की है, और मनुष्य का न्याय सदा ही उचित नहीं होता। देवी! आपके पथ-प्रदर्शन के लिए कृतज्ञ हूँ। क्या मैं आपका नाम जान सकता हूँ?

अलम्बुषा—तपस्विन्! इस पतिता को अलम्बुषा कहते हैं, महाराज इन्द्र की आज्ञानुसार मैं यहां आई हूं, आप को पथभ्रष्ट करने का मुझे आदेश मिला है तपस्वी!

दधीचि—भटकते पथिक को पथभ्रष्ट करने से क्या मिलेगा इन्द्र को। (कुछ सोचकर) जिस पथ पर चलने से किसी को कष्ट हो, उस पथ से दूर हो जाना ही अच्छा। किसी की राह का कांटा बनना ठीक नहीं। देवि! तुम लौट जाओ। मैं स्वयं इन्द्र के मार्ग में न आऊंगा। आपकी स्पष्टवादिता ने नारी के गौरव को उन्नत किया है देवि!

अलम्बुषा—लौट जाने के लिये मै यहां नहीं आई हूं। आप कहाँ जायेंगे तपस्वी!

दधीचि—वहाँ जहाँ संसार की अशान्ति अभिशाप बनकर न पहुंच सके।

अलम्बुषा—तपस्वी! इतने स्वार्थी। उस दिन अश्विनी कुमारों के साथ तुम्हारा जो रूप देखा था, वह क्या मेरा भ्रम था। कापुरुष की भांति संसार से भागना चाहते हो?

दधीचि—देवि! क्या यह संसार रहने योग्य है? घृणा, द्वेष, वैर की आग चारों ओर जल रही है। ऊंच नीच की भावना मानव मानव के बीच दीवार सी बनी तनी खड़ी है। समाज में रहने की अपेक्षा बन के किसी एकान्त कोने में रहना कहीं अच्छा है।

अलम्बुषा—कापुरुष की भाँति सघर्ष से घबडा कर संसार त्याग क्या अच्छा है! सोचो तपस्वी, यदि समाज का बच्चा बच्चा इसी तरह घबड़ा कर एकान्त खोजने लगे, तो संसार की क्या दशा होगी? जो सब न कर सकें क्या वह कार्य अच्छा है। मानवता को सिसकता छोड़ एकान्त में शान्ति खोजने की अपेक्षा संसार के साथ संसारी व्यथाओं का बोझ लिये चलना, आगे बढना कहीं अच्छा है तपस्वी।

दधीचि—आदर्श और सिद्धान्तों का अपार बोझ लेकर, संसार में अकेला कहाँ तक चल सकूँगा।

अलम्बुषा—पथ की कठिनाइयां ही पैरों को गति देती हैं तपस्वी!

दधीचि—घोर तमिस्रा में हृदय को हिला देने वाले चीत्कार डग उठाने से मुझे रोकते हैं, कुछ सोच नहीं पा रहा हूँ।

अलम्बुषा—सोचने का अवकाश ही यहाँ कहाँ है? सोचने वाले को समय सदा पीछे छोड़ जाता है। पानी अपना मार्ग स्वयं बनाता है। साहसी मञ्जिल पर खड़ा मुस्कराता है, और सोचने वाला रोता है।

दधीचि—चारों ओर अन्धकार में प्रकाश की रेखा की भाँति आप.....

अलम्बुषा—यह संसार है, तपस्वी ? जहाँ जीना पड़ता है, क्योंकि मरना भी सहज नहीं।

दधीचि—किन्तु.....

अलम्बुषा—किन्तु क्या, किन्तु, परन्तु तो कर्म की बाधा मात्र है।

दधीचि—पगों की शिथिलता बातों से दूर नहीं होती।

अलम्बुषा—पंगु अरुण प्रकाश का भार सँभाले हुए ही आकाश का लम्बा मार्ग पार करता है। साहस, पथ की अन्तिम रेखा है।

दधीचि—चन्द्रमा और तारों की हँसी रात्रि का अन्धकार दूर नहीं कर सकती।

अलम्बुषा—रागमयी उषा हृदय के रक्त से निशा की कालिमा धो देती है तपस्वी !

दधीचि—पा गया। पा गया। (हर्षित होते हैं।)

अलम्बुषा—क्या पा गये, तपस्वी ?

दधीचि—अपनी तृषा का जल, विचारों का संबल। थके पंखों का नीड़, जीवन पथ मिल गया (जाना चाहते हैं)

अलम्बुषा—कहाँ चले तपस्वी ?

दधीचि—जीवन पथ पर।

अलम्बुषा—अकेले ही।

दधीचि—अकेला ही आया हूँ, अकेला ही जाऊँगा।

अलम्बुषा—पुरुष की गति प्रकृति है।

दधीचि—साथ चल सकोगी ?

अलम्बुषा—छाया साथ ही चलती आई है अलम्बुषा।

दधीचि—तो आओ चलें।

अलम्बुषा—कहाँ ? कर्मभूमि को छोड़कर कहाँ जायेंगे हम ? आज से सेवा हमारा व्रत होगा और प्रेम हमारा धर्म।

दधीचि—त्याग हमारी तपस्या और समता हमारी साधना। देवी !

अलम्बुषा—आज्ञा !

दधीचि—देखता हूँ मिट्टी का ढेला भी संसार के काम आता है। परन्तु मनुष्य केवल संसार से लेने का ही प्रयास करता आया है। क्या हम दूसरों के काम नहीं आ सकते ? क्या मनुष्य शरीर हमें इसलिये मिला है कि हम दूसरों से सुख की आशा करें। और दूसरों को कष्ट ही दे। पशु पक्षी भी जब किसी के काम आते हैं तो सृष्टि का सर्वोत्तम अंग मनुष्य, सृष्टि के काम क्यों नहीं आता ? हम क्यों नहीं सोचते कि सब सुख से रहें। सब स्वस्थ रहें, सब दीर्घायु हों।

अलम्बुषा—(आभूषण वस्त्रों को उतारती हुई) बिदा हो, मेरे पापों के स्मृति चिन्हों ! विदा हो।

दधीचि—यह क्या ?

अलम्बुषा—कर्म पथ पर यह बोझा लेकर न चल सकूंगी। तपस्वी ! जब संसार का एक बड़ा भाग यह सब नहीं पा सकता तो मुझे ही क्या अधिकार है कि यह सब अपने पास रखूं।

(अनेक दास व दासियाँ आती है)

एक सेवक—खोज कर हम थक गये। आप यहाँ इस वेष में ! यह क्या हो रहा है स्वामिनी ?

अलम्बुषा—वही जो होना चाहिये था। मनुष्य को क्या अधिकार है कि मनुष्य, मनुष्य से मूल्य देकर सेवा कराये। मेरे प्रिय बान्धव आज से आप मुक्त हैं आप जहाँ चाहें जा सकते हैं, और लो, जो कुछ अब तक हमारा था अब तुम्हारा है। आवश्यकतानुसार सब आपस में बाँट लेना।

सेवक—स्वामिनी ! आपको मतिभ्रम हुआ है। चलियें घर लौट चलिये।

अलम्बुषा—मतिभ्रम हुआ था पर हर्ष है कि वह दूर हो गया। एक मनुष्य ने आँखों पर बँधी पट्टी खोल दी।

सेवक—पर हम सब कहाँ जायें। आपको छोड़कर हमारा है ही कौन ? जीवन भर पिंजड़े में रहा पक्षी क्या भला उड़ने योग्य रह सकता है ?

दधीचि—इन्हें यहीं रहने दो, ये भी कर्म पथ में हमारा साथ देंगे।

(सब महात्मा दधीचि एवं माता अलम्बुषा की जय जयकार करते हैं)

(परदा गिरता है)

[द्वितीय अङ्क तृतीय दृश्य]

— राजोद्यान —

(महाराज इन्द्र मणि-मण्डित मञ्च पर सुशोभित हैं, सम्मुख सोम पात्र, पार्श्व में शची विराजमान है, चित्रसेन गा रहे हैं, उर्वशी एवं रम्भा नृत्य करती हैं।)

— गीत —

रुमझुम रुमझुम नूपुर बाजे,
गूंज उठा आँगन।
नाचा गगन, मगन मन डोला
देख देख सावन॥
छलक उठे यौवन घट रीते,
आओ प्राण! बहुत दिन बीते।
गुन गुन करता मस्त भ्रमर,
इठलाते कलिका-कन॥
बल्लरियाँ लेतीं अँगड़ाई
मद मन्द तरु पर अलसाई
बिन्दु सिन्धु के मचल उठे हैं,
लेकर अपनापन॥

—श्री सिद्धेश्वर अवस्थी

इन्द्र—सुन्दर, अति सुन्दर। महारानी ! इन्हें पुरस्कृत करो।

शची—महाराज ! प्रजा रञ्जन के नाम पर लिया गया द्रव्य केवल अपन मनोरंजन के लिये उपयोग में लाना अन्याय है।

इन्द्र—देखता हूँ कि मेरी प्रत्येक गति विधि पर दोष निकालने की तुमने शपथ खा रखी है। दो क्षण मन बहलाने वाले मेरे ये कलाकार भी तुम्हारी आँखों में खटकने लगे। यही तुम्हारा पातिव्रत धर्म है ?

शची—स्वामी ! पत्नी का ही कर्तव्य कर रही हूँ। भावी बिपत्ति से पति को सतर्क रखना पत्नी का धर्म है, कला को वासना का साधन बनाना, कला की उपासना नहीं, कला का तिरस्कार है। बागेश्वरी की एक मीठी तान पर करोड़ों सिसकियाँ एवं चीत्कार निछावर नहीं किये जा सकते। प्रकृति के एक सुन्दर चित्र के लियें करोड़ों आँखों से झरते हुए आँसुओं की ओर से दृष्टि फेर लेना कला की साधना नहीं। वासना और उपासना को एक स्थान पर बैठाकर आपने कला का जो अपमान किया है उस पाप का परिणाम हमारो सन्तानों को भी भोगना पड़ेगा। आपने हृदय की वाणी सुनने के लिये हृदय को कुचला है, क्या आपने एक क्षण के लिये यह भी सोचा है कि कलाकार अपने उदर पोषण के लिये आपका मनोरञ्जन कर रहे हैं। स्वामी ! इन कण्ठों में जो कोटि कोटि कण्ठों का आर्तनाद छिपा हुआ है उसे भी, आपके कान, कभी सुन सके हैं क्या ? मैं सुन रही हूँ।

उर्वशी—धन्य महारानी !

इन्द्र—भय और शंका नारी का धन है, महारानी ! मेरा विशाल आरक्षी दल और धर्माधिकारी धर्मराज क्या उनके आर्तनाद को सुनने के लिये यथेष्ट नहीं। हमें क्या आवश्यकता, जो हम अपना मस्तिष्क व्यर्थ की उलझनों में फँसावें ?

शची—महाराज ! त्याग और सेवा के बल पर ही प्राप्त किया गया यह शासन न्याय के लिये दिये गये आदेशों या आरक्षी दल के प्रयासों पर टिका रहेगा इसमें मुझे शंका है, आपकी विलासिता की दुर्गन्ध आज वायुमण्डल में गूँज रही है। भूख और शीत से प्रजा सिसक रही है। उनकी करुण पुकारें भले ही संगीत की लय में आपको लय जान पड़ें किन्तु वे चिल्ला रहे हैं, वे चिल्लाने को विवश हैं।

इन्द्र—जिनकी चिल्लाने की आदत पड़ गई है, वे चिल्लाते ही रहेंगे। सिर पर चढ़कर चिल्लाने वाले, देवपद पाकर संतुष्ट हो जायेंगे, चिन्ता न करो महारानी ! और ये असुर, दास थे, दास है और दास रहेंगे।

शची—दधीचि को इन्द्रासन दिया तो था आपने ? जो उत्तर मिला था, उसे इतना

शीघ्र भूल गये। स्वामी सत्य के पुजारी, पद की अभिलाषा नहीं करते, भ्रम छोड़िये। समय रहते सावधान हो जाइये। चींटी भी दबकर काट लेती है।

इन्द्र—(अट्टहास करते हुए) अरे! वह दधीचि! मेरा क्या बिगाड़ सकता है, अकेला वह.....

कामदेव—(आकर) महाराज! उसे अकेला न समझिये। सारा देवलोक, नागलोक, भूलोक उसके ही गीत गाता है। न जाने कितने देवताओं को मनुष्य बना दिया है उसने।

इन्द्र—और असुर?

कामदेव—वे तो उसे साक्षात् शङ्कर मानते हैं, वे मनुष्य थे, मनुष्य बन गये हैं। चर, अचर, सब में प्राण मानते है वे।

इन्द्र—यह क्या कह रहे हो कामदेव?

कामदेव—हाँ महाराज! सहयोग की भावना यहाँ तक बढ़ी है कि उनमे दातुन प्राप्त करके वे नीम को जल देते हैं, पेड़ों को सीचकर ही फल लेते है, वे भी पके और आवश्यकतानुसार। वृक्ष क्या, कोई एक डाल भी नही काटता। प्रार्थना करके वृन्दा की पत्ती लेते है वे पगले।

इन्द्र—ऐसा! यह उन्हें दधीचि ने सिखाया है। यह तुम कह रहे हो?

कामदेव—सत्य ही कह रहा हूँ, असुर अब मदिरा नहीं पीते उन्हें अब न्यायालय जाने की आवश्यकता नहीं, कोई किसी को अपने से नीचा नहीं समझता, सब लोग अपना काम अपने ही हाथों से करते हैं, अपाहिजों एवं पीड़ितों की सहायता सबल करते है। सब में त्याग की भावना प्रबल होने के कारण, न चोरी का भय है न लूट का। कभी किसी में यदि विचार विभिन्नता हो भी जाती है तो उसे आपस में ही प्रेम से बैठकर दूर भी कर लिया जाता है। सब लोग कार्यरत रहते हैं अतः सुखी है।

इन्द्र—हूँ! और वह अभागी अलम्बुषा?

कामदेव—महाराज! लोहा, पारस छूकर कञ्चन हो गया है। वल्कल धारिणी साक्षात् अलम्बुषा, माता पृथ्वी के समान अहर्निश सेवा में संलग्न रहती है। बिना परिश्रम किये भोजन की ओर देखना भी पाप समझते है, अतः किसी को किसी से वैर नहीं। उन्होंने अपनी आवश्यकतायें कम कर ली हैं। इसलिए सब प्रसन्न हैं, गो सेवा कर केवल एक ही स्तन से दूध प्राप्त कर अवशेष तीन स्तनों का दूध गोवत्स के लिए छोड़ दिया जाता है, अतः उनकी गायें बड़ी स्वस्थ हैं प्रेम की पावन सरिता में नहाकर वे पुनीत हो गये हैं महाराज!

इन्द्र—क्या, दधीचि पर, अलम्बुषा अपनी रूप राशि का कुछ भी प्रभाव न डाल सकी ! क्या स्त्रियों का सहज आकर्षण असुर समाज से बिदा हो गया है, क्या स्वर्ण सुरा सुन्दरी के उपकरणों से वे मुक्त हो गये ?

कामदेव—महाराज ! स्त्री पुरुष को समान अधिकार देकर पाप का नाम भी मिटा दिया है, प्रेम की पवित्रता ही उनका जीवन है पाशविक सम्भोग, प्रेम की सीमा वहाँ नहीं है, नारी और पुरुषों पर वहाँ बन्धन नहीं। वे मुक्त हैं। रूप का आकर्षण उन्हें वासना मुक्त नहीं करता। सौन्दर्य के लिए प्रेम की भावना है, पर अधिकार की कामना नहीं, 'ऐन्द्रिय भोग वे आवश्यक मानते हैं, सुख और शान्ति का साधन नहीं। सुना है आचार्य की अनुमति प्राप्त कर दधीचि अलम्बुषा को पत्नी रूप में ग्रहण कर लेंगे।

इन्द्र—पर आचार्य की अनुमति को आवश्यकता !

कामदेव—आचार्य में दधीचि का दृढ़ प्रेम, और पिता में पुत्र का अटूट विश्वास, पुत्र पिता की अनुमति, जीवन साथी चुनने में आवश्यक समझता है।

उर्वशी—हे भगवान् ! क्या कभी ऐसा भी दिन आवेगा, जब कि हमारी सन्तान हमें माँ कहने में सङ्कोच न करेगी।

रम्भा—भगवान् ! यदि तुम कहीं दूर हो तो आकर इस नारी रक्षक की रक्षा करना। कैसा पवित्र दिन होगा, वह जब हमें पतिता कहने वाला समाज हमारी सन्तानों को पति और पत्नी रूप में स्वीकार करेगा।

इन्द्र—मेरे रहते वह दिन कभी न आयेगा। रम्भा ! हमें तुम्हारी सदैव आवश्यकता रहेगी। स्वर्ग होगा तो सुरा भी और सुन्दरी भी ! उस दिन को आने दो, देखा जायगा, अभी सोमपात्र उठाओ, रम्भा !

(दासी का प्रवेश)

दासी—गुरुदेव पधारे हैं।

इन्द्र—गुरुदेव ! गुरुदेव ! आनन्द के समय भी गुरुदेव ! (अभिमान से मुंह फेर लेता है, आते हुये गुरुदेव बृहस्पति लौट जाते हैं)

गुरु—हैं, इतना अभिमान। इतना मदान्ध ! तब पतन निश्चित है। (ऊपर को देखकर) भावी ! मैं तुम्हारी प्रबलता स्वीकार करता हूं, मनुष्य से देवता बनाकर मैं इसे पशु ही बना सका। (जाते हैं)

शची—गुरुदेव ! गुरुदेव ! (पीछे पीछे दौड़ती है, रम्भा और उर्वशी भी साथ ही साथ दौड़ती हुई जाती हैं)

चित्रसेन—यह अच्छा नहीं हुआ। स्वामी ! गुरुदेव का इस प्रकार रुष्ट होना हमारे लिये अमंगल का ही सूचक है। चलिये, उन्हें मनावें।

इन्द्र—(मदोन्मत्त की भाँति) क्या अच्छा नहीं होगा। वे गये। तुम भी जाओ! सब जाओ। मैं अकेला ही सब सँभाल लूँगा। मुझे किसी की आवश्यकता नहीं।

(शची आकर)

शची—स्वामी! स्वामी! गुरुदेव चले गये। सदा के लिये हमें छोड़ गये, मैंने उन्हें बहुत मनाया, लाखों अनुनय-विनय की उन्होंने नहीं मानी। वे अब नहीं आयेंगे। स्वामी अब क्या होगा? (रोती है) उनके बिना कौन सँभालेगा यह भार!

चित्रसेन—महाराज! धैर्य धारण कीजिये।

इन्द्र—यह क्या रोना चिल्लाना मचा रखा है? जाओ यहाँ से मैं सब देख लूंगा। सब देख.....लूँ.....गा।

(सभी शोक निमग्न खड़े हो जाते हैं, परदा धीरे धीरे गिरता है)

— नेपथ्य से —

[गुरु बृहस्पति अप्रसन्न होकर चले गये और न लौटे तो न लौटे। हताश देवताओं ने यज्ञांश पाने में असमर्थ होने के कारण त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को गुरु बनाया, विश्वरूप नाम के अनुसार गुण भी रखते थे। सकल सृष्टि को ब्रह्ममय देखने वाले विश्वरूप भला स्वार्थी देवों को कैसे संतुष्ट रख पाते।]

[अङ्क द्वितीय चतुर्थ दृश्य]

राजभवन

[महात्मा विश्वरूप गुरुपद पर आसीन हैं, लेखक तथा कोषाध्यक्ष सिंहासन के दोनों ओर बैठे हैं, द्वारपाल आता है और नमस्कार करने के पश्चात् एक असुर के आने की सूचना देता है]

द्वारपाल—(आकर) देव ! सेवक चरणों को प्रणाम करता है।

विश्वरूप—संसार की मंगल कामना में रत रहो प्रिय ! कहो बन्धु !

द्वारपाल--भगवन् ! वेष भूषा से असुर प्रतीत होने वाले एक सज्जन द्वार पर उपस्थित हैं और श्रीमान् जी से कुछ निवेदन करना चाहते हैं, आज्ञा हो तो उपस्थित होने के लिये कह दूँ।

विश्वरूप—बन्धु ! सेवक के पास आने के लिये स्वामी को आज्ञा लेनी पड़े, यह अनीति है। मैंने महाराज से निवेदन कर दिया था कि मैं इस प्रकार के बन्धनों से मुक्त रहना चाहता हूँ। राज्य के साधारण से साधारण नागरिक की सुख सुविधा का भार जब मुझ पर है तो मेरे पास आने जाने में प्रजा को यह संकोच क्यों ? जाओ ! और उन्हें सस्नेह लाओ।

(लेखक और कोषाध्यक्ष के साथ द्वारपाल चौंकता है)

लेखक—प्रभु ! साधारण शिष्टाचार परम आवश्यक है, अन्यथा आपको शासन कार्य में भी असुविधा होन लगेगी। आपको यहाँ बैठना कठिन हो जायेगा।

विश्वरूप—ठीक ही कहते हो बन्धु ! किन्तु जब प्रजा की असुविधायें कम हो जायेंगी, तो मुझ से प्रत्येक को मिलने की आवश्यकता ही न रहेगी। द्वारपाल ! जाओ, और प्रत्येक आगन्तुक को मेरे पास आने की सुविधा करो।

द्वारपाल—जो आज्ञा, परन्तु.....

विश्वरूप—तुम्हारा, परन्तु भी समझता हूँ, निःस्पृह और न्यायशील व्यक्ति कभी भय नहीं करता, फिर काल तो सदैव साथ है, प्राणों का मोह क्यों, जाओ, मेरी ओर से निःशङ्क रहो, मुझे किसी का भय नहीं।

(द्वारपाल जाता है और एक ग्रामीण कृषक वेषी असुर को लेकर आता है)

विश्वरूप—स्वागत ! बन्धु ! कहिये मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।

ग्रामीण —दयासिन्धु ! सेवक का प्रणाम स्वीकार हो। मैं श्रीमान् की एक दीन प्रजा हूं, मुझे मेरे बन्धुओं ने अपनी कुछ असुविधाओं के निवारण के लिये श्रीमान्जी से प्रार्थना करने के हेतु भेजा है।

विश्वरूप—समझा ! तो आप कृषक समुदाय के प्रतिनिधि हैं। उचित ही किया है उन्होंने। यदि इसी प्रकार हर वर्ग अपने अपने प्रतिनिधियों द्वारा अपनी मांग शासन के सामने रखे तो शासन का बहुत सा कार्य भार कम हो जाय। अच्छा, कहिये, मैं आप को आश्वासन देता हूं कि आपका कष्ट दूर करने में प्राण-पण से चेष्टा करूँगा।

ग्रामीण—प्रभु ! शासन की ओर से जिन देवों को हमारी सुख-सुविधा का भार सौंपा गया है, वे बेचारे देवलोक के निवासी होने के कारण हमारे कष्ट समझ नहीं पाते और देवता होने के कारण हमसे मिलने में भी उन्हें संकोच सा होता है, अतः हमें न तो समय पर वरुणदेव पानी दे पाते हैं और न ओषधीश चन्द्रदेव समय पर ओषधियों के बीज। कुबेरजी भी हमें आर्थिक सहायता समय पर नहीं देते। हमारी सारी कृषि चौपट है। इधर देवलोक निवासी हमारीं आवश्यकताओं की पूर्ति एक प्रकार से हमारा रक्त निचोड़ कर करते हैं।

विश्वरूप—तो आप चाहते क्या हैं ?

ग्रामीण—समय पर जल, समय पर बीज और आर्थिक सहायता, जो हम अपने आप अपनी आवश्यकतानुसार समय पर पा सकें। अपने श्रम के मूल्य के आधार पर ही हर वस्तु प्राप्त करने का सुयोग।

कोषाध्यक्ष—यह कैसे हो सकता है महाराज ! देव लोक की रक्षा पर जो व्यय होता

है उसके कारण इस ओर हम अधिक सहायता कैसे कर सकते हैं। भगवान कुबेर इसे कदापि स्वीकार न कर सकेंगे।

विश्वरूप—किन्तु इनकी याचना उचित है, इनकी प्रसन्नता तथा इनके उत्थान पर ही देवलोक जीवित रह सकता है, अतः मैं पहिले इनका ध्यान करूँगा। बन्धु ? अबसे यज्ञांश का तृतीय भाग आपको प्राप्त होगा जिसे आप अपनी समझ से उचित रूप से व्यय कर सकेंगे। मैं जल और बीज का भी प्रबन्ध करता हूँ। और कोई सेवा !

ग्रामीण—महाराज राक्षसों से हम लोग बहुत दुखी हैं, धर्मराज ने उन्हें हमारी रक्षा के लिये रखा है, पर वे स्वयं हमारे भक्षक हो रहे हैं, हमारे बलवान् नव युवक उनके कारण निर्भय होकर राह भी नहीं चलने पाते, कोई न कोई दोष लगाकर उन्हें नर्क में डाल देते हैं और नर्क के भय से तथा उनके कराल दण्डों से भयभीत लोग भागे भागे फिरते हैं, और फिर फिर दस्यु बन जाते हैं। जिनके कारण हमारा जीवन अरक्षित हो गया है।

लेखक—महाराज ! ये असुर लोग बिना दण्ड ठीक भी तो नहीं होते, अतः.....

विश्वरूप—चुप रहिए, महाशय ? यदि यह मेरुदण्ड ही, इस भाँति दण्ड से आतङ्कित रहेगा तो जीवन दूभर हो जायेगा, देवताओं का।

ग्रामीण—भगवन् ! स्वयं छद्म वेष से हमारे ग्राम में रहकर देख लें, बस यही प्रमाण है और अधिक क्या कहूँ।

विश्वरूप—बन्धु ! निश्चित ही आपका यह कष्ट भी निवारण किया जायेगा, आपको सताने वाले राक्षस स्वयं दण्ड पायेंगे।

ग्रामीण—आपकी जय हो देव ! आज्ञा हो !

विश्वरूप—जाओ ! और हमारी ओर से असुर लोक निवासियों से कह दो कि वे निर्भय रहें उनका भाग उन्हें निश्चय मिलेगा।

(एक असुर का एक श्रमिक के रूप में प्रवेश)

श्रमिक—हमें भी न्याय मिले, दीनबन्धु !

विश्वरूप—आज्ञा कीजिये !

श्रमिक—श्रीमान् ! श्रम का फल आधे पेट रोटी। ये जीर्ण शीर्ण वस्त्र और उधर देवलोक में देवताओं को नवीन वस्त्र आभूषण, नवीन वाहन, संसार की सारी सुविधायें ! हमारे पसीने से मोटे होकर वे भरपेट खायें और हम भूखों मरें, क्या यही न्याय है।

विश्वरूप—नहीं यह अन्याय है, शान्त हो बन्धु ! आपको पूर्ण रूप से पारिश्रमिक मिलेगा। मैं शीघ्र ही इसकी सुव्यवस्था कर रहा हूँ, यज्ञांश का तृतीय

भाग आपका है, आपको अवश्य मिलगा। विश्वास रखिये।

श्रमिक—आपका हमें विश्वास है पर कुबेर जी .....।

विश्वरूप—आपकी सेवा का भार मैंने लिया है, कुबेर जी ने नहीं।

[एक देवता का प्रवेश]

देवता—यह तो सत्य है किन्तु कुबेर जी के अनुयायियों ने वह अन्धेर मचा रखा है कि देवलोक में उनको छोड़ सब दुखी हैं। भगवन्! देवताओं में भी त्राहि त्राहि मची हुई है, जीना भार है, कुबेर जी की कृपा से सब व्यापार नियन्त्रित है, अतः उदर पोषण कठिन हो रहा है, हमें यज्ञांश भी नहीं प्राप्त हो रहा।

विश्वरूप—बन्धुवर! आपको ज्ञात है कि देवासुर संग्राम के कारण यह विषम परिस्थिति आ गई, इसे ठीक करने का मुझे समय दीजिये, विश्वास कीजिये, मैं आपके कष्ट अवश्य दूर करूँगा, आपको यज्ञांश अवश्य मिलेगा।

[कुबेर का आगमन]

कुबेर—गुरूजी! इस प्रकार यह यज्ञांश बाँटकर मुझे क्या रंक बनाने पर तुले हुये हैं। सारा राज्य कोष.....

विश्वरूप—कुबेर जी! खेद है कि राज्य कोष को आपने अपना समझा है, वह प्रजा का है, प्रजा के काम आना चाहिये। थोड़े से समाज को सन्तुष्ट कर आपकी व्यवस्था असफल ही रहेगी, आपकी व्यवस्था दूषित न होती तो आज हर वर्ग इस प्रकार दुखी न होता, आपकी नीति मे सुधार आवश्यक है। आपने श्रीमान् देव समुदाय को सन्तुष्ट रखने का जो प्रयास किया है वही इसका कारण है। हर वर्ग के उत्थान का ध्यान रखिये कुबेर जी!

कुबेर—यह असंभव है, देवलोक में देवताओं के तप का फल उन्हें मिलना ही चाहिये।

विश्वरूप—योग से तप नष्ट होता है कुबेर जी।

कुबेर—जब हो जायेगा तो देखा जायेगा।

विश्वरूप—मेरे रहते अन्याय नहीं होगा।

कुबेर—तो आप ही न रहेंगे, महाराज इन्द्र आपका यह विभाजन कदापि न स्वीकार करेंगे।

विश्वरूप—इसकी चिन्ता नहीं, विभाजन तो हो चुका।

[इन्द्र का प्रवेश]

इन्द्र—तो आपका कार्य भी समाप्त हो चुका। मुझे आप जैसे समदर्शी की आवश्यकता नहीं।

विश्वरूप—मुझे गुरुपद से मुक्त समझिये।

इन्द्र—इन्द्र इतना मूर्ख नहीं जो आपको जीवित रखकर राज्य में विद्रोह की ज्वाला

जलने दे। प्रस्तुत हो, पाखण्डी ? समता का उपदेश देने वाले की देवलोक में कोई आवश्यकता नहीं, समानाधिकार की बात करने वाला जीवित नहीं रह सकता।

विश्वरूप—भगवान् तुम्हें सद्बुद्धि दे। मैं प्रस्तुत हूँ राजेन्द्र ! किन्तु इतना अवश्य सोच लो, मेरी मृत्यु आपके लिये भयङ्कर सिद्ध होगी, समानता का जो दीपक जल उठा है उसका प्रकाश प्रत्येक कुटिया तक अवश्य पहुँचेगा। चाहे वह देर से भले ही पहुंचे पर वह बुझाया नहीं जा सकता।

इन्द्र—मैं उस दीपक को चूर चूर कर दूंगा।

विश्वरूप—उसका हर कण एक नवीन ज्योति प्रकट कर देगा। हो सकता है कि उसमें से ज्वाला प्रकट हो जाय और उस ज्वाला में सारा देवत्व ही जल जाय।

इन्द्र—बस, मौन हो जा।

(इन्द्र, विश्वरूप पर तलवार चलाते हैं और विश्वरूप गिर पड़ते हैं।)

— यवनिका पतन —

[अङ्क द्वितीय पञ्चम दृश्य]

—व्रज पथ—

(त्वष्टा का शोकातुर दशा में विलाप करते हुये आना)

त्वष्टा—कहाँ है ! कहाँ है ! मेरे हृदय की शान्ति ! मेरे जर्जर शरीर की आत्मा ! बूढ़े नेत्रों की ज्योति, मेरे पथ का सहारा ! अन्धे की लाठी ! मेरा लाल ! मेरा विश्वरूप कहाँ है ? बोल ! बोल ! पिशाच इन्द्र ! उसने तेरा क्या बिगाड़ा था। ओ नारकी कीड़ो ! तुम्हें देवता कहलाते लज्जा नहीं आती, जो तुमने उस निर्दोष की हत्या की। तुम्हे क्या मिला पिशाचो ! ओ अन्यायियो ! बोलो ! आकाश के तारो ! तुम हंसो और खूब हंसो। मैंने पद और सम्मान की लालसा में पुत्र की हत्या की है। यदि मैं उसे न भेजता तो संसृति को एक रूप मे देखने वाला मेरा लाल उस नृशंस के पास क्यों जाता ? वृक्षो ! तुम भी हंस लो, पर इतना याद रखो कि तुम भी समान रूप से सब को छाया और फल देते हो, तुम्हें भी ये देवता !! नहीं ! नहीं ! पिशाच !!! न रखेंगे। चन्द्रदेव ! तुम हंस रहे हो तो हंसो। क्योंकि यह संसार है, यहाँ राह के एक ओर अर्थी चलती है तो दूसरी ओर बहू का डोला। एक ओर माँग भरी जाती है तो दूसरी ओर

भरी माँग में धूल डाली जाती है। कौन किस को रोता है, सब अपनी मौत मरते हैं। पराई मौत मरता ही कौन है।

वृत्र—(आकर) पिताजी ! आप यहाँ, और इस प्रकार ! हैं, यह क्या ? ऐसी दशा ! यह क्या पिता जी !

त्वष्टा—कौन पुकार रहा है मुझे मेरा विश्वरूप ! आ जा बेटा ! अब तुझे फिर उन दुष्टों के पास न जाने दूंगा। हैं ! तू नहीं आयेगा। कैसे आयेंगा ! वहाँ जाकर कौन लौटता है।

वृत्र—पिताजी ! होश में आइयें।

त्वष्टा—कौन कहता है, मैं होश में नहीं हूं। पुत्र खोने के पश्चात् भी मैं जी रहा हूं, चल रहा हूं, साँसें ले रहा हूं. पुत्र का शव देखने के अनन्तर भी मेरी आँखों में ज्योति है, उसे खाने के बाद भी पेट में भूख है। कान सुन रहे हैं, फिर भी तू कहता है कि मैं होश में नहीं हूँ, मैंने अपना कलेजा अपने आप खाया है भाग जा ! नहीं तो, तुझे भी खा जाऊंगा। आह !! ठहर !

[दौड़ने की चेष्टा में गिर पड़ते हैं]

वृत्र—पिता जी ! पिता जी ! (दौड़ कर उठाता है)

त्वष्टा—कौन वृत्र ! पापी ! नीच ! कुलाङ्गार ! भाई की लाश देख कर भी तेरा क्रोध नहीं उमड़ा, मुझे मुँह दिखाने आया है, दुष्ट ?

वृत्र—बस पिता जी ! बस ! भाई विश्वरूप का जबतक प्रतिशोध न देख लूँगा तब तक चैन से न बैठूँगा। यदि इन्द्र के बाल पकड़ कर घसीटता हुआ उसे आपके चरणों में न डाल दूँ तो भाई की हत्या मुझे लगे। पिता जी ! मैं जाता हूँ, विद्रोह की वह ज्वाला जलाऊँगा जिससे देवलोक ही नही, प्रत्युत सारा विश्व ही धधक उठेगा, संसार के सारे समुद्र भी मिलकर उसे न बुझा सकेंगे। दिशायें थरथरा उठेंगी। तारे टूटेंगे, आकाश काँप जायेंगा, धरा अकुलायेगी, पवन रुक जायेगा, नक्षत्र टकरायेंगे, वह होगा मेरा विश्वरूप !

दधीचि—पर विश्वरूप को न लौटा सकोगे, भाई वृत्र ! किसी को मिटाने से पहले यह सोच लो कि तुम ईश्वर नहीं हो। और सहायता करते समय तुम ईश्वर हो, क्योंकि वह दयालु है।

वृत्र—कौन ! महात्मा दधीचि !

दधीचि—हाँ भाई ! इस युद्ध की इस आग का क्या फल होगा ? हरी भरी खेतियाँ जलेंगी, हजारों विधवाओं के आर्तनाद से वायुमण्डल भर जायेंगा, लाखों मातायें निपूती होंगी, बने घर बिगड़ेंगे। एक युग भी उन्हें न सँभाल पायेगा।

पागल के साथ पागल बनने से क्या लाभ होगा ? पाप का बदला समय ले लेगा। तुम क्यों उतावले होते हो ?

वृत्र—महात्मन् ! मुझे इस समय कुछ नहीं सुनाई देता। मैं कुछ नहीं समझ सकता, प्रतिहिंसा केवल प्रतिहिंसा ! सारे बन पथ और जनपदों में वह आग लगाऊँगा जिसमें जलकर देवत्व सदा के लिये भस्म हो जायेगा।

दधीचि—तुम्हारे जैसे ब्रह्मवेत्ता के मुख से ये वचन शोभा नहीं देते वृत्र !

वृत्र—मुझे ब्राह्मण न कहो दधीचि ! क्रोधी पिशाच से भी गया बीता होता है, तुम देख रहे हो, इन्द्र का स्वार्थ निर्बलों का रक्त पी रहा है। भूख और ठण्ढ से कराहती मानवता का मुँह पत्थरों से बन्द किया जा रहा है। जर्जर, अधमरे, भूखे बालकों के मुंह का कौर छीनकर देवता लोग स्वर्ग में बैठे अट्टहास कर रहे हैं, फिर भी तुम मुझे शान्त रहने को कह रहे हो।

दधीचि—भगवान् और समय का विश्वास करो। उससे अन्याय नहीं होगा।

वृत्र—भगवान् ! भगवान् ! जो दीनानाथ कहलाकर देव मन्दिरों की शोभा बढ़ा रहा है, ऐसे भगवान् का ध्यान करूँ। नहीं, दधीचि ! मुझसे यह न होगा। मेरा भगवान आज मेरे शस्त्र है, मेरे भगवान् आज वे दरिद्र हैं जो आज तक भूख से मरे हैं, पर अब लड़कर मरेंगे। देवत्व को समाप्त किये बिना मुझे सन्तोष नहीं। शांन्ति नहीं।

दधीचि—बन्धु ! सोचो तो, सब देवता इन्द्र नहीं और सब असुर बलि नहीं। भूल दानो ओर है आओ ! शान्ति से बैठ कर सब भूलें सुधार लें।

वृत्र—दधीचि ! तुम शान्ति अपना सकते हो, पर मैं तो क्रान्ति में विश्वास रखता हूँ, अन्याय का शीघ्राति शीघ्र अन्त ही शान्ति का मार्ग है।

दधीचि—भूलते हो वृत्र ! क्रान्ति से, वह भी खूनी क्रान्ति से तुम्हें शान्ति कभी न मिलेगी। यदि क्रान्ति ही करना है तो आओ विचारों में क्रान्ति करें। मरकर जीना सिखायें, इन्द्र को मारकर भी हम दूसरे इन्द्र को पैदा होने से न रोक सकेंगे। पर इन्द्र का हृदय परिवर्तित कर हम मनुष्यत्व को पुनर्जन्म दे सकेंगे। रक्त का धब्बा रक्त से न छूटेगा।

वृत्र—मुझे शस्त्र पर विश्वास है।

दधीचि—शस्त्रों का विश्वास केवल झूठी आशा है। एक को मार कर तुम दूसरे को जिला नहीं सकते।

वृत्र—हो सकता है। अब मैं अधिक रुक नहीं सकता, जाता हूँ, यदि जीवित रहा तो फिर मिलूंगा (इसके पश्चात् जाना)

(महात्मा दधीचि, उदार भाव से खड़े रहते हैं)

[अङ्क द्वितीय षष्ठ दृश्य]

— दधीचि की कुटिया —

[एक ओर से महात्मा दधीचि और अलम्बुषा बातें करते हुए आते हैं दूसरी ओर से देवगुरु बृहस्पति एवं आचार्य शुक्र का शुभागमन होता है]

दधीचि—देवि ! मेरे प्रयत्न करने पर भी वृत्र न माने और आज जो कुछ हो रहा है देख रही हो ।

अलम्बुषा—फिर क्या होगा । स्वामी !

दधीचि—जो कुछ होगा, उसकी कल्पना भी भयानक है, कदाचित् इस रक्तपात को मैं रोक सकता । (शोक से विह्वल हो उठते हैं)

शुक्राचार्य—(आकर) वत्स ! संसृति के प्रति तुम्हारी मानवता देखकर मैं प्रसन्न हुआ किन्तु इस प्रकार उदास होना ठीक नहीं ।

दधीचि—श्वान और शूकर की भाँति पेट भरना ही तो पुरुषार्थ नहीं, मनुष्य यदि अपने कार्य से संसृति को शान्ति के दो क्षण भी न दे सका तो जीवन का मूल्य ही क्या । कर्म करने के लिये बाध्य मानव कर्म करेगा ही, फिर मैं अपने कर्म कैसे बन्द रक्खूँ । पाप अपनी पराकाष्ठा को पहुँच रहा है ।

शुक्राचार्य—फिर पाप, पुण्य ! मैंने कितनी बार कहा कि संसार में ये दोनों ही नहीं हैं, समय पर विश्वास करो।

दधीचि—कर्मयोगी भाग्य के सहारे कैसे बैठ सकता है ?

बृहस्पति—मुझे बोलना ही पड़ा, एक दिन जो आग हमने लगाई थी, वह संस्कृत होकर घर घर में फैल चुकी है, श्रेष्ठता, सम्मान और अधिकार की भयानक भंवरों में पड़ी मानवता का उद्धार होना कठिन है।

शुक्राचार्य—तर्क और कल्पना का आश्रय लेकर हमने जो स्वर्ग और नर्क की रचना के साथ साथ जिन दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों की खोज की है, वह बड़ी ही भयानक है।

बृहस्पति—असंख्य तारों में चन्द्रमा को विशेष स्थान देकर जो भूल मैंने की हैं, उसका ही यह दुखद परिणाम है। आकाश को ऊपर जान, अन्तर्यामी को मैंने ऊपर ही माना और आकाश में स्वर्ग की कल्पना कर यह भी भूल गया कि क्षीर सागर क्या है। भगवान् वहां क्यों शयन करते हैं ? क्षीर सागर नीचे ही रह सकता है ऊपर नहीं।

शुक्राचार्य—मैंने तारों के बीच चन्द्र को छोड़ दिया। केवल शंकर को कैलास शिखर पर मान कर भी पाताल की ओर ही देखा। इन्होंने केवल अन्तर देखा और मैंने केवल बाह्य। हम दोनों को आकाश पाताल तो मिलाते रहे पर आकाश पाताल को मिलाने में भूतल को बिल्कुल भूल गये। और आज हम दोनों असफल हैं।

बृहस्पति—हमने ही एक और असंख्य के अन्तर मे अन्तर पैदा किया है, फिर अन्तर को रक्त से धोना भी चाहा, पर रक्त के धब्बे स्वयं जम कर रह गये। आज उन रक्त बीजों को मिटाने वाली, जगदम्बा कहाँ हैं ? जो अपनी ममता से उन लाल धब्बों को श्वेत कर दे। हमने अपराध का प्रतिकार दण्ड से करना चाहा, क्षमा माँगने के लियें हाथ ऊपर उठाये। सिर नीचा कर क्षमा मांगी, पर सिर ऊपर उठाकर क्षमा न दे सका, खून का बदला खून से लेकर हमने आतंक फैलाया और मिथ्या की सृष्टि की। भूल सुधारने के बदले केवल भूले को मिटाना चाहा और असफल हुये।

दधीचि —परन्तु गुरुदेव ! इन बीती बातों से क्या लाभ ! भूत की भूलें वर्तमान में सुधार कर यदि भविष्य को उज्ज्वल बना सकें तो बेड़ा पार है।

बृहस्पति—शस्त्र और शास्त्रों के ऊपर चलने वाली मानवता के ऊपर से यदि वह भयानक छाया दूर की जा सकती है तो कल्याण हो जाता। परन्तु·····

दधीचि—कैसे दूर हो सकेगी वह छाया। ग्रहण की लीक पर चलती हुई वह गाड़ी जिसके दोनों पहिये स्त्री पुरुष स्वार्थ के गहरे गढ़ में धुरी तक धंस चुके हैं, पीछे कैसे लौटेगी, जब कि आगे ढाल ही ढाल है।

शुक्राचार्य—बेटा ! हृदय परिवर्तन ही एक उपाय शेष है। संसार यदि किसी प्रकार हृदय के द्वारा चलाया जा सकता बुद्धि स्वयं सम्राज्ञी न होकर हृदय की अनुवर्तिनी होती। मनुष्य विवेक से काम लेता।

दधीचि—संसार आज दो भागों में विभक्त होकर आपस में टकराकर नष्ट होनें के लिए भयानक से भयानक अस्त्रों शस्त्रों की खोज कर रहा है। मानवता मिटने के लिये पागल हो उठी है।

शुक्राचार्य—आकुलता की आवश्यकता नहीं, बासन्ती कोपलों के लिए पतझार आवश्यक है।

दधीचि—पर इसकी कल्पना भी भयानक है तात !

गुरु—तुम सँस्कार बदल सकोगे ? तो जाओ, उस नवयुवक समाज में जो कल संसार का भार कन्धों पर रखकर चलेंगे, उन्हें प्रेम, क्षमा, अहिंसा, सत्य को अपनाने के लिये कहो ! अकर्मण्यता से दूर उन्हें यदि ले जाकर स्वर्ग की कल्पना से नीचे उतार नर्क में खड़ा कर वहीं भूतल की रचना कर सको तो जाओ।

दधीचि—और ये गुरु जन !

शुक्राचार्य—पगले ! कौन गुरु, कौन शिष्य, जो अन्धकार से निकाल सीधी राह पर ले चले वही गुरु है। जाओ वत्स ! यदि संसार को शस्त्रों की छाया से मुक्त कर सको। दैवी और आसुरी दोनों प्रवृत्तियों को मिटा कर यदि मानवता, केवल मानवता की रक्षा कर सको तो तुम्हारा जीवन धन्य हो जायेगा। वह मानवता जिसमें देवताओं की बुद्धि की देन कला-साहित्य, सङ्गीत, असुरों के हृदय से मिलकर मनुष्य को भोलापन और श्रम करने की शक्ति दे सके।

अलम्बुषा—मेरे लिए क्या आज्ञा है तात !

शुक्राचार्य—पुत्री ! तुम तो स्वयं माँ हो, तुम्हें कौन राह दिखायेगा। ममता की पवित्र धारा में वैर, घृणा फूट को बहा दो। तुम्हारे आँसुओं में बहने वाला पुरुष तुम्हारी सुनेगा, अवश्य सुनेगा। तुम्हारे दूध में वह शक्ति है जो स्वयं आँखें खोल देती हैं।

बृहस्पति—कल्याणी ? हमारी सन्तानों को माँ का ममत्व चाहिए। पिता की सहज स्वार्थ बुद्धि नहीं, कालिके ? अपना खप्पर दूध से भर लो।

शुक्राचार्य—शिक्षालय ! माँ की गोद पर ही हमने प्रथम प्रहार किया। पुरुष को

बड़प्पन और अधिकार की खुली छूट देकर हमने समाज का बड़ा अपकार किया है। माँ के केवल भावों को नष्ट कर संसार की सारी बुद्धि के ठेकेदार पुरुषों की स्वार्थ वृद्धि ही हम अपनी सन्तानों को दे सके।

बृहस्पति—उंगली पकड़ कर संतान को चलाने वाले मातृरूप को विकृत कर और उसे शक्ति हीन पंगु बनाकर हमने हरे भरे संसार में केवल आग ही लगाई है, उस प्रकाशयुक्त ताप से हमें मुक्त करो। तुम्हारे हृदय की ममता की श्वेतिमा ही हमारी लालिमा पर जय पा सकती है।

अलम्बुषा—तात! आपके इन सम्बोधनों से मैं घबड़ा उठी हूँ, मैं एक पतिता नारी, वह फूल जो सूंघ कर और मसलकर धूल में फेंक दिया गया है।

दधीचि—ऐसा न कहो देवि? सूंघा हुआ फूल देवता के मस्तक पर भले ही न चढ़े किन्तु मनुष्य उसे आँखों से लगाकर हृदय पर अवश्य धारण कर सकता है। धूल में गिरकर भी फूल, फूल है, पश्चात्ताप की बूंदों में समस्त विश्व का पाप धुल जाता है।

शुक्राचार्य—वत्स! आज मैं धन्य हुआ। मुझे हर्ष है कि तुम मनुष्य हो। मुझे तुम-सा पुत्र पाने पर गर्व है, जिसके पास हृदय है वह फूल, फूल की सुगन्धि और सृष्टा को अलग करके नहीं देखता। वत्स! मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम इस मानवी के साथ सुख पूर्वक जीवन पथ पर आगे बढ़ो।

अलम्बुषा—(स्नेह विह्वल शुक्र के पैरों पर झुकती है) तात! (गला भर आता है)

शुक्राचार्य—पुत्रि! (गद्गद् हो उठते हैं)

बृहस्पति—बेटी! उठो। संसार को पीड़ा से मुक्त करने में तुम दधीचि के हाथों की शक्ति बनो।

अलम्बुषा—पर समाज पिता जी!

शुक्राचार्य—पगली! समाज से वे डरते हैं, जो अन्तर्यामी से नहीं डरते, स्त्री पुरुष का स्वाभाविक प्रेम पाप नहीं है। माता प्रकृति ने कहीं पाप का सृजन नहीं किया। पाप पुण्य स्वार्थ की कल्पना है, जो संस्कार बनकर सदव भयभीत करती है। बेटी! दधीचि को जीवन पथ पर साथ चलने वाले साथी की आवश्यकता में समझ रहा हूँ। गुरुवर! इन दोनों को आशीर्वाद दीजिये।

[आचार्य शुक्र एवं देवगुरु बृहस्पति दोनों के शिरोभाग में हाथ रखते हैं और धीरे धीरे यवनिका पतन]

———

[अङ्क द्वितीय सप्तम दृश्य]

यज्ञमण्डप

दक्ष प्रजापति के यहाँ यज्ञमण्डप में समस्त देवता विराजमान हैं, दधीचि भी अन्य ऋषियों के साथ एक ओर बैठे हुये दृष्टिगोचर होते हैं।]

दधीचि—(उठकर) राजन् ? मैं देख रहा हूँ कि इस आयोजन में समस्त संसार का कल्याण चाहने वाले देवाधिदेव शंकर कहीं नहीं दीख पड़ते। क्या इस उपेक्षा का कारण जान सकता हूं, उन्हें न बुलाकर आपने बहुत बड़ी भारी भूल की है !

दक्ष—महात्मन् ! इस यज्ञ में उस नङ्गे का क्या काम ? जहाँ देवेन्द्र, अग्निदेव, वरुणदेव, यमदेव, धर्मराज, चन्द्रदेव, सूर्यदेव, गन्धर्व चित्रसेन, रम्भा, उर्वशी, मेनका इत्यादि आप्सरायें समुपस्थित हों वहां उस अशिव वेष की उपस्थिति !

दधीचि—उस अशिव ही में संसार का सारा शिवत्व लहरा रहा है, यदि आँखें होतीं तो आप देख पाते, किन्तु आपकी आँखों में तो पीलापन छा गया है, श्वेतिमा में पड़े हुए लाल डोरे भला आपको शान्ति का स्वरूप देखनें ही कब देते हैं किन्तु एक बात न भूलिये कि वे शङ्कर समाधि से जागकर प्रलयङ्कर भी

बन जाते हैं। उनके महाकाल रूप का दर्शन संसार अनेकों बार कर चुका है।

दक्ष—क्या कह रहे हो महात्मन् ! जिसको यज्ञ मण्डप के नियम तक ज्ञात नहीं, उस आधे पागल, असभ्य, को बुलाकार क्या मैं सभा का अपमान करता।

दधीचि—आपके अभिमान ने आपकी बुद्धि को विकृत कर दिया है राजन् ? उनके बिना आपका यज्ञ सफल होगा, मुझे शङ्का है, जिनके मस्तक के श्रमविन्दु गंगा की पवित्रधारा बनकर संसार को पवित्र करते हैं। जिनका मस्तक परम पवित्र धूल से सुशोभित रहता है जिनकी बुद्धि केवल शान्ति का मार्ग सोचा करती है, और संस्मृति चन्द्र की अमृतमयी किरणों के भाँति जिससे नव जीवन रस प्राप्त करती है। जिनके गले में संसार का भार सर्प बन कर पड़ा है, जिनके हृदय में प्राणिमात्र के लिए स्थान है, उन नीलकण्ठ शिव का अपमान करके अच्छा किया आपने ?

दक्ष—बस, बस, ऋषिवर ! अब अधिक गुणानुवाद न कीजिये, वह असभ्य, नीच, भिखारी, कपाली, सदा का उदासी बैल जिसका वाहन वह देवों की सभा में स्थान पाये ?

दधीचि—जो सर्वस्व लुटाकर अपने लिये कुछ न रख भिखारी बने संसार की कामना में सदैव रत रहते हैं, उनके बिना कोई सत्ता टिक सकेगी, यह समझना भारी भूल है। प्रजापति ? आपने उनका अपमान कर शक्ति का अपमान किया है, आप शक्ति हीन हैं, जिन देवताओं पर आप विश्वास किये बैठे हैं, वे कभी भी उनकी क्रोध ज्वाला से आपकी रक्षा नहीं कर सकते यह निश्चय मानिये।

दक्ष—देखा जायगा। महात्मन् ! तुम्हें मेरी शक्ति का ज्ञान नहीं।

दधीचि—आपकी शक्ति में भली भाँति जानता हूँ। यह तभी तक है जब तक कि वे शान्त हैं, आप जिस शक्ति को अपनी समझ रहे हैं, वह आपकी नहीं उनकी है।

(शक्ति का प्रवेश)

सती—पिता जी ! भगवान् भूतभावन शंकर जी का भाग कहाँ है ?

दधीचि—राजन् ! लो, देख लो, अब भी समय है, शक्ति स्वयं तुमसे शंकर का भाग माँग रही है।

दक्ष—तुम यहाँ क्यों आई, मैंने तुम्हें तो आमन्त्रित नहीं किया था।

सती—मुझे यहाँ आने का पूर्ण अधिकार है। पिता जी ! यह न भूलिये कि जिनकी शक्ति से आप शक्तिवान् हैं, उनका अपमान कर आपने भारी भूल की है।

दक्ष—चुप रह। मुझ में शक्ति मेरे तप की है, मेरा त्याग ही.....

सती—आपको इस आसन पर बिठा सका, मैं मानती हूँ किन्तु यह न भूलिये कि इस आसन को आपने जिनकी सेवा से प्राप्त किया है, आज आप उनकी ही यथोचित सेवा से विमुख हैं।

उपस्थित देवताओं और देवियो !

जिस यज्ञ भाग के लोभ ने आप को अन्धा कर दिया है, जिस लाभ की आशा में आप कर्तव्याकर्तव्य भूल बैठे हैं, वह आपको प्राप्त होगा अथवा आप शान्ति से भोग सकेंगे यह असम्भव है।

दक्ष—निमन्त्रित देवों को अपमानित करने का अधिकार तुम्हें किसने दिया ?

सती—पिताजी ! सत्य को बताने के लिये अधिकार की आवश्यकता नहीं।

दधीचि—देवी उचित ही कह रही हैं। देवगण ! आप अभी यज्ञांश पाकर भले ही प्रसन्न होवें किन्तु शिव की ओर से विमुख होकर यह सुख रह नहीं सकता।

सती—यह न भूलिये, जिनके चरणों की मैं दासी हूँ वे सर्व शक्तिमान अपने भोले व सहज स्वभाव से आपको क्षमा कर दें, किन्तु उनका अपमान मैं नहीं सह सकती। मैं यहाँ इसी स्थल पर प्राण देती हूँ।

(अग्नि में कूदती है, सब लोग हाहाकार करते हैं। देवगण निस्तेज होते हैं और चारों ओर अन्धकार छा जाता है, इन्द्र इत्यादि देवगण व्याकुल होकर 'शक्ति शक्ति' चिल्लाते हैं)

दधीचि—देख लिया राजन् ! जिस शिव की शक्ति से आप अनुप्राणित थे वह अपने आप मदान्ध होकर आपने खो दी, किसकी शक्ति है जो अब आपकी रक्षा करे। वह देखो—(कृषक समुदाय आता है और देवों की भली भाँति पूजा करता है, सब प्राण लेकर भागते हैं, दक्ष का शिर काटा जाता है इन्द्र इत्यादि घबड़ाते हैं धीरे धीरे पर्दा गिरता है)

— नेपथ्य से —

[बकरा का शिर दक्ष के लगाया जाना बताया गया है जिसका आशय यही है कि सत्ता प्रजा के हाथ में आ गई और शासक केवल कान पकड़ी छेरी रह गये जिसे प्रजा जब चाहे सिंहासन पर बिठा सकती थी और हटा सकती थी। राजा की स्वयं सत्ता का अन्त इस प्रकार जागृत जनता ने किया]

(धीरे धीरे यवनिका पात होना चाहिये)

द्वितीय अंक समाप्त

———

[अङ्क तृतीय प्रथम दृश्य]

राज भवन का एक भाग

[इन्द्राणी श्री शची चिन्ता मग्न बैठी दिखाई देती हैं, उर्वशी और रम्भा पास में बैठी हुई गा रही है]

—गीत—

हंस रही थी धरा, रो रहा था गगन ।

(१)

पीर उभरी हृदय की न चुप रह सके,
बूंद बन बन बिलखने लगे घन सघन ।
स्वर्ग की चाह थी धूल में मिल रही,
कांपती थी निशा हाँफता था पवन ।
फूल डूबे नखत के गगन अश्रु में,
चाँद डूबा लिये चाँदनी की जलन ॥

(२)

चातकी हो रही थी मगन सी मगन,
जल रही थी चकोरी लिये पर जलन ।
एक का था तिमिर सौ उजाला बना,
एक का सौ उजाला तिमिर तम सघन ।
दोष उनका कहाँ भाग्य का दोष था,
एक की थी खुशी एक का था निधन ॥

(३)

रूप की तूलिका से सजल दामिनी, चित्र नूतन प्रणय का बनाती रही ।
सैकड़ो बार जो सैकड़ों बार मर, प्यार का मोल तिल तिल चुकाती रही ।
जान पाई निशा पर न उसकी लगन, कौन सुनता यहाँ पर किसी का रुदन ।

(श्री "राही")

शची—बस करो, उर्वशी ! धधकते ज्वालामुखी को दो बूंद आंसू नहीं बुझा सकते।

उर्वशी—सतत प्रयत्न करने पर भी आपके मुख से विषाद की छाया न हटा सकी। विषाद का कारण जानने की धृष्टता अवश्य करना चाहती हूँ।

शची—तुमसे क्या छिपा है उर्वशी ! हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी महाराज की रण-लिप्सा शान्त न हो सकी। चन्द्र, चन्द्रमुखी को छोड़ वे आज चन्द्रहास से खेल रहे हैं।

उर्वशी—दुग्ध घृत की धवल धारा बहाने के लिये आकाश गङ्गा में ऊषा को स्नान कराया जा रहा है।

रम्भा—असंख्य तारे आकाश में रहकर भी आपस में नहीं टकराते; एक जाति के पशु-पक्षी भी प्रेम पूर्वक साथ साथ रह सकते हैं, पर मनुष्य.....।

शची—बहिन ! लाखों चींटियां साथ रह सकती हैं, विषैले जन्तु, बिच्छू, ततैये भी साथ साथ शान्तिपूर्वक रह सकते हैं, हाथियों के झुण्ड के झुण्ड चरते बिचरते हैं, किन्तु चार विद्वान एक स्थान पर शान्तिपूर्वक नहीं रह सकते। ऐसा क्यों है नहीं जानती।

उर्वशी—सारे संसार की सुख शान्ति का ठेकेदार न स्वयं शान्ति से रह सकता है, न दूसरों को शान्ति से रहने दे सकता है। माता प्रकृति की गोद, जहाँ अनेकों जीवधारी सुख से रहते हैं और जो फिर भी सौन्दर्यमयी रहती हैं, वह एक मानव के चरण रखते ही लुटी सी दिखलाई देने लगती है, ऐसा क्यों होता है मैं नहीं जानती।

शची—सत्य कहती हो उर्वशी ! जहाँ मानव चरण पड़े हैं वहाँ से प्रकृति का सौन्दर्य सदा के लिये बिदा हो गया। अपने को ईश्वर का भी ईश्वर बताने का दम्भ भरने वाला मनुष्य शान्त न रहा, न रहेगा। वह अपने को सौन्दर्य का उपासक बताकर सदैव ही सौन्दर्य का शत्रु रहा है। उसकी अधिकार लिप्सा ने उसे प्रकृति का शत्रु बना दिया है।

उर्वशी—प्रकृति पर विजय पाना चाहता है वह। विजय किस पर ? उस पर, जिसका वह लघुतम अंश है। माता पृथ्वी को भोग्या मान वह अपने को भूपति, पृथ्वीनाथ की उपाधि धारण करते समय यह भूल जाता है कि उसकी अन्तिम निशानी भी धूल में ही सदा को खो जायगी। दूसरों को मारकर भी वह अपने को अमर समझता है। मूर्ख मानव !

शची—युद्ध होगा। किसलिये ? अपनी सारी बुद्धि का उपयोग शस्त्र निर्माण में करके आज मानव अपनी बुद्धि की परीक्षा करेगा। छिः।

उर्वशी—गुरुदेव ! जो इस युद्ध को रोकने की क्षमता रखते थे, असाध्य रोगी की

भाँति हमें छोड़ गये। दुर्भाग्य ! सुना है, महात्मा वृत्र ने समस्त वनपथ तथा जनपद निवासियों में महाराज के विरुद्ध प्रचार किया है और सदा शान्त रहने वाले वे बनवासी भड़क उठे हैं।

रम्भा—महाराज के अभिमान, विलास एवं अत्याचार की कथायें बन पथ एवं जन पदों में घर घर कही जा रही हैं।

उर्वशी—महाराज जिनके नाम से घृणा करते हैं वे ही कृषक और श्रमिक आज वृत्र के साथ हैं; उनकी शक्ति प्राप्त कर वृत्र आज अपने आपको शंकर एवं ब्रह्मा का वरद पुत्र कहने लगे हैं।

रम्भा—हाँ ! यह भी सुना है कि उन्होंने देवताओं की देखा देखी, नवीन शस्त्रों का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया है।

शची—जो कुछ हो रहा है, बहुत बुरा हो रहा है; सदाशिव की समाधि यदि भंग हो गई तो विश्व का त्राण कठिन है क्योंकि शंकर का दूसरा रूप प्रलयंकर ही होता आया है उर्वशी ! आह ! अब क्या होगा ?

बृहस्पति—(आकर) जो कुछ होगा, अच्छा ही होगा देवियो ! अन्तर्यामी की इच्छा को कोन रोक सकता है।

(सब दौड़ कर चरण रज ले मस्तक पर रखती हैं)

शची—रोकिये, रोकिये, गुरुदेव ! इस भयंकर रक्तपात को रोकिये।

बृहस्पति—कौन रोक सकता है इसे ! किसान खेत में स्वत: जमने वाले पौधों को नही रहने देता। क्षेत्रज्ञ शिव उसी प्रकार स्वत: बढ़ने वाले अभिमान, मोह, घृणा, वैर, द्वेष को संसार में नहीं रहने देते। युद्ध में वे ही भाग लेते हैं जो दूसरों को मारने में ही अपना शौर्य समझते हैं, अत: उन्हें मिटाना ही चाहिए। बुद्धि जब हृदय को रौंदती हुई आगे बढ़ती है तो परिणाम, विनाश अवश्यंभावी है।

शची—प्रभु की इच्छा बिना जब पत्ता नहीं हिलता, तो यह नर संहार क्यों ?

बृहस्पति—विनाश के बिना सृजन सम्भव नहीं, प्रभु की सत्ता न मानकर ही मानव मानव के रक्त का प्यासा हो उठता है, अन्तर्यामी को पहिचानने वाला किससे वैर करे। सृजन विनाश, विनाश सृजन, प्रकृति का नियम है।

शची—यह नियम कभी जान सकूंगी, गुरुदेव !

बृहस्पति—रहस्य जानकर भी क्या करोगी, देवि ! केवल दृष्टा बनकर जो रहता है वही सुखी है। रहस्य जानने की चेष्टा में ही मानव, मानव से देवता बनकर पशु भी नहीं रह गया।

शची—तो आपके विचार से जो कुछ हो रहा है ठीक हो रहा है।

बृहस्पति—विश्व में कुछ बुरा भी है यह कहने की भूल मैं न करूँगा। जिस महान् शिव शक्ति का आश्रय पा यह विश्व चल रहा है, उस पर विश्वास करके देखो तो सब अच्छा ही अच्छा है।

शची—गुरुदेव ?

बृहस्पति—वह विश्वंभर तुम्हारी भलाई तुमसे अधिक जानता है, काली घटायें देखने में अयंकर भले ही लगें। महाप्रलय की विभीषका भले ही उत्पन्न करें, किन्तु अपने अमृत से ही वे जीवन संचार करती हैं। मृतकों में नवीन प्राणों को फूंकता है। वत्स ! रुदन में ही गान छिपा रहता है। विनाश के पीछे सृजन अनिवार्य है।

शची—विनाश बिना सृजन सम्भव नहीं गुरुदेव !

बृहस्पति—असम्भव है, किन्तु मनुष्य में सामर्थ्य है कि विनाश को सृजन सा ही बना दे। कैसे यह भी बताता हूं देवि ? प्राणी मात्र की मंगल कामना करते हुए मनुष्य दीर्घायु अवश्य प्राप्त कर सकता है, यदि मानव की स्वार्थमयी लालसायें उसकी वासनायें न्यूना हो सकें तो निश्चय है कि संसार में मृत्यु का भय न रह जाय। परन्तु बेटी ! अब रोग बढ़ चुका है और रोगी संसार को युद्ध में ही शान्ति मिलेगी, अभिमानियों का अभिमान चूर्ण किये बिना शान्ति असम्भव है।

शची—यह आप क्या कह रहे हैं गुरुदेव ?

बृहस्पति—यह मैं नहीं कह रहा हूँ, भावी कह रही है, मैं तो केवल सुन रहा हूँ। विश्व में बढ़ा अनाचार यह भयानक भेद, विश्वंभर कब तक देखते रहेंगे ! धूल का अपमान धूल धूसरित रहन वाले कब तक सहते रहेंगे ?

शची—तो फिर ?

बृहस्पति—चेष्टा करो कि तुम्हारे हृदय मे विश्वंभर का विश्वरूप स्थान प्राप्त कर सके। रूप में उन्हें देखने की चेष्टा करो। इसी में कल्याण है, अच्छा ! अब जाता हूँ।

(प्रस्थान, सब पीछे २ जाते हैं)

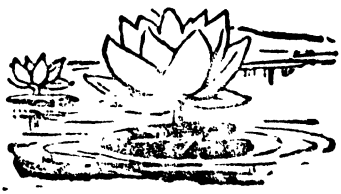

[अङ्क तृतीय द्वितीय दृश्य]

तपोभूमि

[एक वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न महात्मा दधीचि बैठे हैं अलम्बुषा और नन्हा सारस्वत माँ की अँगुली पकड़े आता है, अलम्बुषा गुनगुनाती है]

— गीत —

पलकों में पलना बनाऊँगी, झुलाऊँगी मैं ललना।
तारों से गूथूँगी चोटी निशा सी, चन्दा का टीका लगाऊँगी।
सजाऊँगी मैं ललना।
तेरे कपोलों में ऊषा बिखेरूँ, अधरों में फूल खिलाऊँगी।
हँसाऊँगी मैं ललना॥
माँग के लाऊँगी मैं कण्ठ कोयल से, गा गा के गीत सुनाऊँगी।
रिझाऊँगी मैं ललना॥
प्रात पवन का मैं पङ्खा झलूंगी, किरणों से सर सुहलाऊँगी।
सुलाऊँगी मैं ललना॥

दधीचि—बड़ी प्रसन्न हो, अलम्बुषे !

अलम्बुषा—आपका सहवास पाकर जब इस बन के पेड़ पत्ते भी प्रसन्नता से खिलखिला

कर हँस रहे हैं, तो मैं तो आपकी सहधर्मिणी हूँ। वह देखिये, प्रभात की प्रथम किरण को छूते ही कमल हँस पड़ा है, सूरजमुखी उधर जाग कर अपने ऊपर चन्द्र द्वारा अर्पित किये गये जलकणों को एकमात्र हृदय धन सूर्य देव को अर्पित कर रही है, प्रेमी भौंरे गीत गा गा कर कलियों को सुनाने लगे हैं। सब अपने अपने कार्य में संलग्न हैं स्वामी !

दधीचि—मैं भी यही सोच रहा हूँ अलम्बुषे ! यदि मानव भी अपना कार्य भार दूसरों पर न डाल स्वयं करने लगे तो संसार की यह विषमता बहुत कुछ कम हो जाय। माता प्रकृति के पास इतना अवश्य है जो वह समान रूप से सबका लालन पालन कर सके। यदि मानव आवश्यकतानुसार उस अक्षय भण्डार से लेकर सबको समान रूप से ले लेने दे तो न्यूनता का दर्शन दुर्लभ हो जाय। आश्रय, आश्रित और आश्रयदाता का प्रश्न ही न उठे, परन्तु देखता हूँ नदी की अविरल धारा समुद्र में जाकर लीन हो रही है, पानी में पानी जा रहा है और मरुस्थल प्यासा तड़प रहा है। कदाचित् नदी की धारा मरुस्थल की ओर बहती ?

अलम्बुषा—नदी की यह धारा बाँध बना कर समुद्र की ओर से फेरी जा सकती है स्वामी ! नहरों और नालियों में इसका जल बहाकर मरुस्थल भी हरा भरा बनाया जा सकता है। मीठी नदी का मीठा जल समुद्र में मिलकर खारा बन जाता है किन्तु मरुस्थल में पहुँच कर संसृति को फल-फूल ही देगा।

दधीचि—परन्तु, यह बाँध बँधे कैसे ?

अलम्बुषा—त्याग और सद्भावना में यदि शासन अपना सहयोग मिला दे तभी यह संभव है। किन्तु सदा यही सोचते रहते हैं आप, या कुछ और भी, सारस्वत इतना बड़ा हो गया पर.....

दधीचि—(हँसकर) उसको प्यार करने के लिये उसकी माँ जो है, पुरुष प्यार करना क्या जाने ? यह तुम न जाने कितनी बार कह चुकी हो प्रिये !

अलम्बुषा—हाँ ! हाँ मैं यही कहती हूँ कि पुरुष प्यार करना नहीं जानते, अपने को ही देख लीजिये न। बोलिये आपने कभी प्यार किया है ?

दधीचि—सत्य ही कहती हो प्रिये ! मुझे प्यार करना नहीं आता। हाँ इतना जानता हूँ कि वे काले बादल जो कभी कभी क्षितिज से उठकर अपने आँसुओं से धरा के फटे कलेजे को जोड़ देते हैं, मेरे हृदय में भी घुमड़ा करते हैं। वे सुनहली किरणें जो हरे भरे खेतों में अपना रंग भरकर बालियों को लजाना सिखा जाती हैं, कभी कभी मेरे अधरों पर भी खेल जाती हैं। वह हरा

मखमली चदरा जिसमें टँके सतरंगे फूल मुस्कुराते रहते हैं, न जाने क्यों मेरी आँखों में झाँकता रहता है, बार बार आँखें पलक मारने से रुक जाती हैं, ऐसा क्यों होता है, यह तो मैं नहीं जानता, हो सकता है यही प्यार हो, प्रेम गूंगा होता है प्रिये ?

अलम्बुषा—और मैं.....जाइये मैं जाती हूँ, सँभालिये अपने सपूत को (जाने का नाट्य करती है)

दधीचि—अरे तुम मुझसे भिन्न कहाँ, तुम तो स्वयं मैं हूँ। फिर प्रेम जो अधरों पर आ जाय, वह तो वासना होती है, अलम्बुषे !

अलंम्बुषा—स्वामी !

दधीचि—प्रियें ! प्रीति हृदय की वस्तु है, अधर पर आकर झूठी हो जाती है, उसका निवास तो हृदय के स्पन्दनों मे है, प्रेम स्वयं परमात्मा है, परमात्मा प्रकट होने पर प्रतिमा मात्र रह जाता है, प्रेम का अनुभव हृदय को हो सकता है, और हृदय के पास शब्द नहीं, केवल धड़कनें हैं जिह्वा पर आने वाले शब्द बदले के निमन्त्रण है जो आगे चलकर घृणा के कारण भी हो जाते हैं।

अलम्बुषा—तब स्त्री पुरुष का सहज आकर्षण क्या है ? दो हृदयों की मिलनोत्कण्ठा क्या प्रेम नहीं ?

दधीचि—वह भी प्रेम है, पर बन्धन युक्त, सीमित। प्रेम अथाह उदधि है, जो उमड़ कर भी अपनी सीमा नहीं लाँघता, किनारे नहीं तोड़ता, अनन्त आकाश में असंख्य तारों को स्थित रखने वाला, असीम प्रेम शब्दों में प्रकट नहीं होता। प्रेम निर्मल निर्झर है, उसे व्यक्ति विशेष में केन्द्रित कर हम दूषित ही करते है, सब कहीं तुम हो, सब कहीं मैं। असीम को सीमित कर हम लुट जायेंगे।

अलम्बुषा—मैं कृतार्थ हुई।

दधीचि—प्रेम, मदिरा नहीं किन्तु अमृत है, जिसको पीकर प्राणी अमर होता है, त्याग का दूसरा नाम प्रेम है।

(बाहर कोलाहल होता है)

अलम्बुषा—हें ! यह कैसा कोलाहल। जाऊँ, देखूं (जाती है—पुनः एक घायल वृद्ध एवं स्त्री को लेकर आती है)

दधीचि—हें, यह क्या ? तुम्हारी यह किसने गति की ?

वृद्ध—सुना था भूखा भेड़िया भेड़िये को खा जाता है, पर यह मनुष्य, यह देवता, हरे भरे खेत जला दिये। ग्राम उजाड़ दिये। सारा वन पथ धू धू कर जल

रहा है, स्त्रियों के स्तन काटे गये, उनकी लज्जा लूटी गई। बच्चों को भालों पर उछाला गया। पिता के आगे पुत्र मारा गया। पुत्री पर बलात्कार किया गया, फिर भी देवत्व का अभिमान! सभ्यता की शान। एक अग्निबाण। सब स्वाहा, क्यों? इसलिए कि वे देवता नहीं, इसलिये उनका मत नहीं मिलता? इसलिए कि वे अपना भूखा पेट छिपाने में असमर्थ नगे है। यह हत्या! यह विनाश! (मूर्छा)

दधीचि—यह क्या हो रहा है भगवान्! क्या यही प्रगति है, यही विज्ञान है, इसी संस्कृति पर इतना अभिमान।

स्त्री—पिता जी! पिता जी! (वृद्ध से लिपट जाती है)

दधीचि—धैर्य रखो, देवि? आह वृत्र तुमने आग लगा ही दी। मेरी इतने दिनों की तपस्या नष्ट कर ही दी। अन्तर्यामिन्! प्रभो! क्या तुम्हारी यही इच्छा है, कि मनुष्य, अभागा मनुष्य देवता बनकर मानवता की लाश पर खड़ा होकर अट्टहास करे और तुम सुनते रहो। इस दृश्य के देखने के पहिले मुझे अन्धा क्यों न कर दिया। यह चीत्कार सुनने के पहिले मे बहरा क्यों न हो गया। हे भगवान्! दीनानाथ!

स्त्री—भगवान्! भगवान्! दीनानाथ! ह ह ह ह ह वह नहीं सुनेगा। स्त्री अबल है पुरुष उसका रक्षक है, शील स्त्री का धर्म है, लज्जा उसका भूषण है, और वही रक्षक जब स्त्री की लाज लूट रहा था, तब भी वह मौन था, मूक! पाषाण! बधिर! होगा वह। मै मानती हूँ, क्योंकि मैं हूँ। किन्तु कहाँ? मै नहीं जानती, यदि जानती तो उससे पूछती कि क्या तेरे समुद्रों में विश्व को डुबाने की शक्ति नहीं। क्या तेरे ज्वालामुखी, सब के सब ठण्ढे पड़ गये, जो तू ने मनुष्य को मनुष्य के रक्तस्नान की छूट दे दी है।

दधीचि—यह सुनकर भी तुम जीवित हो दधीचि। बहिन!

स्त्री—चुप रहो, पाखण्ड! मुझे आज अपनी छाया तक से घृणा है, तुम भी तो पुरुष हो, पशु से भी अधिक नृशंस, भयानक।

दधीचि—माता!

स्त्री—माता, भगिनी, पुत्री, पत्नी, पुत्रवधू और न जाने क्या क्या कहकर तुम आज तक नारी को छलते रहे। दुर्बल और नारी को लूटना ही तुम्हारा ध्येय है।

दधीचि—दुख ने जो तुम्हारे हृदय की दशा की है, उसको आँसुओं से ठण्ढा तो नहीं कर सकूँगा, किन्तु ममत्व की प्रतिमा भी यदि इन्हीं घृणित भावों से भर गई तो त्राण कठिन है, शान्त हो, मुख खोलो!

स्त्री—स्वयं पीड़ा को कह रहे हो कि मुस्कराये। स्वयं रुदन से कह रहे हो कि गाये। और जिसका सर्वस्व लुट चुका है उससे कह रहे हो मुंह दिखाये। आग से जल की याचना।

दधीचि—महाप्रलय के उपरान्त ही सृजन होता है। कांटों में सभी फूल खिलते हैं, पृथ्वी के टूटे हुए हृदय में ही जीवन मूरि औषधियाँ रहती हैं। ज्वालामुखी के लावा से शत शत रस प्रकट होते हैं।

स्त्री—करुणा के अवतार! तुम कौन? देव हो या मनुज? यदि मनुज हो तो तुम पर श्रद्धा होती है और भक्ति का सचार क्योंकि मनुष्य के हृदय होता है।

दधीचि—देवि! मैं अभागा दधीचि हूँ। लज्जा निवारण करो, आपत्ति में नष्ट हुई मर्यादा, विवशता में लुटी लज्जा, तुम्हें नारी कहलाने में बाधक नहीं हो सकती। तुम आज भी गंगा की पावन धारा हो।

स्त्री—धन्य! ईश्वर तू है और अवश्य है। क्योंकि तूने मुझे आज विपत्ति के समय भी ठीक स्थान पर पहुचा दिया। मनुज, देव, दनुज, किन्नर, गन्धर्व, और अप्सरा के नाम से विभक्त मानव जाति के प्राण, महामानव! तुम्हें मेरा प्रणाम! स्त्रियों के रक्षक! दुर्बलों के सहायक। पुरुषोत्तम महात्मा दधीचि के चरणों में लाकर, हे भगवान्! तूने अपने अस्तित्व का ही परिचय दिया है।

दधीचि—आह! आज मेरी वाणी में शक्ति नहीं। अकेला मैं और यह भीषण रक्तपात। देवों को अपनी बुद्धि पर गर्व है, दत्यों को अपने बल पर। फिर कौन सुनेगा मेरी! दीनानाथ! मैं अकेला!

अलम्बुषा—कौन कहता है तुम अकेले हो, विश्व को एकमात्र अपने रूप मे देखने वाले! तुम्हारी निराशा विश्व को डुबा देगी।

दधीचि—हे भगवान्! विश्वनियन्ता कौन कहेगा तुम्हें, जब कि दीनानाथ कहने वाले ही न रहेंगे।

(कृषकों का प्रवेश)

सब—महात्मा दधीचि की जय! माता अलम्बुषा की जय!

दधीचि—मेरे बन्धुओ! मेरी जय बोलकर क्या मिलेगा तुम्हें। मेरी पराजय तो मेरे सम्मुख उपस्थित है, वह देखो! (स्त्री और वृद्ध को दिखाते हैं)

एक कृषक—हैं! इनकी यह दशा। हम इसका प्रतिशोध अवश्य करेंगे।

दधीचि—यह मेरी दूसरी पराजय है। मेरे साथ इतने दिन रहने पर भी यदि प्रतिशोध की भावना का शमन न हो सका तो इससे बढ़कर अब मेरी दूसरी पराजय और क्या होगी। आह!

वही कृषक—भूल हुई महात्मन्! आज्ञा कीजिये। हम क्या करें। देवों के अत्याचार अपनी सीमा पार कर चुके हैं, हमारा अहिंसा का व्रत छूटना चाहता है। हम इस व्रत पर नहीं चल सकते।

दधीचि—तो मेरा साथ छोड़ दो। मैं अकेला ही चलूंगा, जो मेरे साथ चल सके वही आगे आवे।

[कई कृषक आगे निकल आते हैं दधीचि प्रसन्न होते हैं]

[यवनिका पात]

[अङ्क तृतीय तृतीय दृश्य]

युद्ध शिविर

[इन्द्र, यम, वरुण, काम, धर्मराज, चित्रसेन, कुबेर, सब घबड़ाये हुये से बैठे हैं]

इन्द्र—सब व्यर्थ ! कोई उपाय नहीं। भयंकर से भयंकर आयुधों का प्रयोग हमने किया, किन्तु सब निष्फल। विजय की कोई आशा नहीं, यही कहने तुम सब यहाँ आये हो।

अग्नि—हाँ ! महाराज ! अग्नि का कोई प्रयोग मैंने शेष नहीं छोड़ा, किन्तु मेरे प्रत्येक शस्त्र का उत्तर मिलता गया और वह भी मेरे प्रयोग से भयंकर।

वरुण—जल के सारे प्रयोग निष्फल हो गये महाराज ! क्योंकि उनका उत्तर भी उसी भाँति मिल गया।

यम—प्रत्येक पाश का मैंने प्रयोग कर लिया किन्तु वृत्र को बन्दी न बना सका।

चित्रसेन—कला की कोई भी कला वृत्र को न लुभा सकी महाराज !

कुबेर—स्वर्ण की तीक्ष्ण प्रभा भी वृत्र को प्रभावित न कर सकी, राज्य कोष मूर्खों की भाँति लुटाकर भी मैं वृत्र को सन्तुष्ट न कर सका।

चित्रसेन—क्यों कुबेर जी ! आप तो देना पढ़े ही न थे, फिर यह कोष कैसे लुटा दिया ?

कुबेर—अरे अपने वश चलते हुये थोड़े लुटा दिया वह तो.....

चित्रसेन—यह समझ कर दिया होगा कि समय पर तुम्हारे काम आयेगा क्यों न !

कुबेर—देखिये महाराज ! चित्रसेन जी.....

चित्रसेन—तुम तो कहीं गिरोगे भी तो साथ लाभ के ।

इन्द्र—असमय की वार्ता समाप्त करो ।

चित्रसेन—महाराज ! सफलता पूर्वक पीछे हटने की भी कला हमें वृत्र के भय से मुक्त न कर सकी ।

इन्द्र—सच कहते हो चित्रसेन वृत्र आज वृत्त की भाँति हमारे चारों ओर है, हमारा देवत्व सङ्कटापन्न परिस्थिति में है ।

अग्नि—महाराज ! यह वृत्र की एकरूपता है जो देवत्व के लिये खुली चुनौती है ।

यमराज—और तो और आज घर घर में देवलोक की स्त्रियाँ तक उसी की चर्चा करती हुई सुन पड़ती है, हमारे प्रति देवताओं में भी शङ्का की जाने लगी ।

बृहस्पति—खेद है इन्द्रदेव ! कि सारे ससार की बुद्धि का ठेका लेकर तुम प्रकृति के छोटे से रहस्य को न जान सके जो विश्वनियन्ता बालक के जन्म से पहिले माँ का आँचल दूध से भर देता है, जो चीटी को कन भर और हाथी को मन भर देता है, उस पर विश्वास न रखकर तुमने, उन पर बिश्वास किया जो अन्न की पूर्ति केवल अकों से करते है जो धर्मराज के अनुचर होकर कुबेर की ओर निहारते है जिनके अधरो की शक्ति में हाथों की शक्ति को तुमने डुबा दिया है, जो आकाश में उड़ते है, क्योंकि उन्हें धूल से भय लगता है, वे आकाश-विहारी धरा का दुःख क्या समझेंगे ? अरे, विश्वनियन्ता पर कुछ तो विश्वास किया होता ।

इन्द्र—किन्तु इन लोगो का जीवन ईश्वर के भरोसे कैसे छोड़ा जा सकता है ।

बृहस्पति—युद्ध में तुम उन्हें भगवान के भरोसे भेज सकते हो, नदियों की बाढ़ से, ज्वालामुखी के विस्फोट से, यहाँ तक कि महामारी के भय से भी तुम उनकी रक्षा नही कर सकते । उसे दैवी प्रकोप बताकर दैव को दोषी ठहरा सकते हो, परन्तु उसी दैव का तुम घर में विश्वास नहीं कर सकते ।

इन्द्र—पर अकेला मै—

बृहस्पति—सारा भार नहीं सँभाल सकते, यही कहना चाहते हो, पर जिनका भार अकारण सँभाले बैठे हो उसे छोड़ भी नही सकते । इन्द्रदेव ! अपना भार उन्हें स्वयं सँभालने दो । ईश्वर के विश्वास, मनुष्यता, नैतिकता के नाश की अपेक्षा मानव जाति की मृत्यु कहीं श्रेयस्कर है ।

हमें अथक परिश्रम के लिये कहना पड़ता है, दूसरी ओर भोजन सामग्री का अभाव है। यही उनके असन्तोष का कारण है।

इन्द्र—कुबेर जी ! देखता हूं कि आपकी कृपा से अब जीवन भी दूभर हो रहा है, आपका विश्वास कर मैं ने भारी भूल की।

कुबेर—मेरा कोई दोष नहीं है देवेन्द्र ! मैं अपना पेट चीर कर दिखा सकता हूँ कि देवलोक के प्रति मेरी कितनी ममता है, पर मैं क्या करूं, धर्मराज ने बीच में बाधा देकर मुझे कुछ करने से रोक रखा है। महाराज तो जानते ही हैं कि भोजन सामग्री कुछ हमने नष्ट कर दी, कुछ उत्पादन कम हुआ और कुछ शत्रुओं ने अप्राप्य कर दी।

इन्द्र—और नवीन उत्पादन की सारी व्यवस्था व्यर्थ हुई।

कुबेर—जन संख्या की वृद्धि ! देवलोक में फैली हुई अकर्मण्यता उसपर महाराज ! क्या कहूं, जिन पर उत्पादन का भार सौंपा था, वे अन्न की पूर्ति केवल अंकों तक ही कर सके अब तक।

इन्द्र—फिर क्या होगा ?

कुबेर—धर्मराज ने भोजन नियन्त्रित कर दिया है और इसका फल यह हुआ है कि देवताओं के साथ साथ असुर भी हव्य प्राप्त कर रहे हैं। बड़ा अन्धेर हो रहा है महाराज।

धर्मराज—महाराज ! भोजन को नियन्त्रित इसलिये किया था कि कोई भूखों न मरने पाये, किन्तु कुबेरजी की कृपा से मेरे सभी प्रयास असफल हो रहे हैं। इनके स्वर्ण की चकाचौंध ने मेरे हर अनुचर को अधर्मी बना दिया है।

कुबेर—हरे हरे महाराज ! बिल्कुल मिथ्या दोषारोपण है। दयानिधि मेरे सेवक परम भागवत हैं, वे बेचारे नियन्त्रण से अत्यन्त दुखी हैं, क्योंकि लाभ पर नियन्त्रण ! हरे ! हरे ! महाराज ! अत्याचार हो रहा है, भोजन की कमी पूर्ति करने में हमारे वैज्ञानिक भी रत हैं। कृत्रिम घृत, दुग्ध एवं नाना प्रकार की भोज्य सामग्री का आयोजन करने में मैं अहर्निश रत हूं फिर भी मुझ पर ही दोष लगाया जा रहा है। महाराज ! यदि धर्मराज ने भोजन पर नियन्त्रण लगाया है तो मैंने भूख ही नहीं वरन् जन्म तक को नियन्त्रित करने की व्यवस्था की है। आशा है कि निकट भविष्य में खाने वालों की संख्या स्वतः कम हो जायेगी।

बृहस्पति—(आकर) और इससे अधिक तुम कर ही क्या सकते हो अर्थ पिशाच !

इन्द्र—फिर उपाय ही क्या है गुरुदेव ! स्वागत ! हमारी उस डगमगाती हुई नय्या

के कर्णधार ! स्वागत ! आपकी अनुपस्थिति ने हमें किंकर्तव्यविमूढ़ कर दिया है, बताइये हम क्या करें।

वृहस्पति—खेद है इन्द्रदेव ! कि सारे संसार की बुद्धि का ठेका लेकर तुम प्रकृति के छोटे से रहस्य को न जान सके। जो विश्वनियन्ता बालक के जन्म से पहिले माँ का आँचल दूध से भर देता है, जो चींटी को कन भर और हाथी को मन भर देता है, उस पर विश्वास न रखकर तुमने, उन पर बिश्वास किया जो अन्न की पूर्ति केवल अकों से करते हैं जो धर्मराज के अनुचर होकर कुबेर की ओर निहारते है जिनके अधरों की शक्ति में हाथों की शक्ति को तुमने डुबा दिया है, जो आकाश में उड़ते है, क्योंकि उन्हें धूल से भय लगता है, वे आकाश-विहारी धरा का दुःख क्या समझेंगे ? अरे, विश्वनियन्ता पर कुछ तो विश्वास किया होता।

इन्द्र—किन्तु इन लोगों का जीवन ईश्वर के भरोसे कैसे छोड़ा जा सकता है।

वृहस्पति—युद्ध में तुम उन्हें भगवान के भरोसे भेज सकते हो, नदियों की बाढ़ से, ज्वालामुखी के विस्फोट से, यहाँ तक कि महामारी के भय से भी तुम उनकी रक्षा नहीं कर सकते। उसे दैवी प्रकोप बताकर दैव को दोषी ठहरा सकते हो, परन्तु उसी दैव का तुम घर में विश्वास नहीं कर सकते।

इन्द्र—पर अकेला मैं—

बृहस्पति—सारा भार नहीं सँभाल सकते, यही कहना चाहते हो, पर जिनका भार अकारण संभाले बैठे हो उसे छोड़ भी नहीं सकते। इन्द्रदेव ! अपना भार उन्हें स्वयं सँभालने दो। ईश्वर के विश्वास, मनुष्यता, नैतिकता के नाश की अपेक्षा मानव जाति की मृत्यु कहीं श्रेयस्कर है।

कुबेर—दुहाई है गुरुदेव ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं प्रजा सुख का ही ध्यान रखूंगा। परन्तु यह नियन्त्रण हटवाइये, दया कीजिये महाराज !

धर्मराज—महाराज ! मैं कुबेर जी पर विश्वास नहीं कर सकता।

बृहस्पति—तुम कुबेर पर विश्वास नहीं कर सकते, ठीक है किन्तु अपने अनुचरों को तो सँभाल सकते हो, उनकी देवत्व भावना को सदा सदा के लिये समाप्त कर दो, उन्हें सेवक बनाकर मनुष्य बना दो। आकाश से नीचे उतर कर धरा की ओर देखो ! देवता बनकर जो आग लगाई है, वह मनुष्य बनकर ही बुझा सकोगे।

(दूत का प्रवेश)

दूत—दुहाई है ! दुहाई है ! वृत्र ने अलकापुरी को घेर लिया है, महारानी और राजकुमार संकट में हैं।

इन्द्र—बचाइये ! बचाइये ! गुरुदेव ! इस वृत्र से हमें बचाइय । असुरों से हमारी रक्षा कीजिये (रोते हैं)

बृहस्पति—रो रहे हो देवेन्द्र ? तुम्हें क्रोध आ रहा है, अग्निदेव । कुबेर तुम भी काँप रहे हो ! परन्तु सोचो, यह आग किसने लगाई । घृणा का पाठ किसने पढ़ाया, देवता बनकर असुरों को किसने सताया ! मनुष्य को असुर कहकर उसकी लाश पर खड़े होकर किसने अट्टहास किया ! विश्वरूप को मारकर वृत्र को असुर किसने बनाया । दधीचि की हत्या की चेष्टा किसने की ? मैंने ? कन्याओं को अप्सरा बनाकर अपने सामने अपने ही संकेतों पर किसने नचाया ? संगीत और कला की ओट में व्यभिचार किसने फैलाया ? असुरों की छाया से भी दूर कौन भागता रहा ? अपने ही घर घर पर प्रकाश के नाम पर आग किसने लगाई ? और अब रो रहे हो ! देवता बनकर तुम यह भूल गये कि धरा पर न असुर रह सकते हैं न देवता । यहाँ केवल मनुष्य बनकर रहा जा सकता है । मनुष्य की दुर्बलताओं से लाभ उठाकर देवता बने हो तो देवत्व का फल भोगना ही होगा ।

इन्द्र—गुरुदेव ! अब अधिक लज्जित न कीजिये । हमारी रक्षा का उपाय कीजिये ।

बृहस्पति—रक्षा का उपाय अब मेरे पास नहीं, उसके पास है जो तुम्हारे अत्याचारों से दुखी होकर मरण प्राय अवस्था में अनशन किये पड़ा है । वह दधीचि ही तुम्हारी रक्षा कर सकता है । जिसके हृदय का प्रेम और सेवा भाव ही इस ज्वाला से तुम्हें बचा सकता है । करो या मरो का सिद्धान्त अपना कर जो महा यात्रा के लिए प्रस्तुत है । चलो मैं तुम्हें उसके पास लिए चलता हूं ।

सब—धन्य गुरुदेव !

(सब का प्रस्थान)

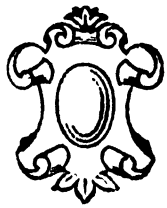

[अङ्क तृतीय चतुर्थ दृश्य]

(दधीचि आश्रम)

(एक उच्चासन पर दधीचि अर्ध लेटे हैं, पास में अलम्बुषा, सारस्वत, एवं अनेकों कृषक तथा श्रमिक बैठे हुये हैं)

अलम्बुषा—प्राण नाथ ! आज पूरे इक्कीस दिन हो गये आपने अन्न जल ग्रहण नहीं किया। शरीर में त्वचा और अस्थियों को छोड़कर कुछ भी शेष नहीं रहा। फिर भी.....

दधीचि—प्रिये ! जब सारा विश्व धू धू कर जल रहा है और उस ज्वाला को मैं बुझा न सका तो अब मुझे जीने का अधिकार ही क्या है। जीवन में एक ही सिद्धान्त अपनाया था। करो या मरो। कुछ कर न सका इसलिए मर रहा हूँ।

अलम्बुषा—किन्तु इस ज्वाला को शान्त करने का सारा भार आप ही पर तो नहीं, जब आप का साथ कोई नहीं देता तो व्यर्थ प्राण देने से क्या लाभ ?

दधीचि—कोई साथ दे या न दे, सत्य पर चलना ही सीखा है मैंने। कहीं पर मेरी भूल अवश्य है, और उस भूल को जानने का ही प्रयत्न कर रहा हूँ। मैंने

जीवन में जो कहा है वही करने की चेष्टा भी की है, फिर आज अन्तिम क्षण में मुझे पथ से विचलित करने की चेष्टा न करो प्रियतमे !

अलम्बुषा—पर इस शरीर पर औरों का भी तो अधिकार है फिर इसे आप नष्ट कैसे कर सकते हैं।

दधीचि—मेरे अन्तर में रहने वाली एक ऐसी ही इच्छा है। सर्व व्यापक किस बात में कल्याण देखता है, यह कोई नहीं जानता। जन्म मरण जीवन के दो छोर हैं इनमें उलझना क्या ?

अलम्बुषा—जब यह हृदय माने तब न !

दधीचि—जीवन भर कर्म का सन्देश देने वाली के मुख से यह क्या सुन रहा हूं, हृदय को निर्बल न बनाओ। तप्त लौह पिण्ड से उड़ने वाली
समान विश्वपति से प्राणी मात्र पृथक होकर पुनः उसी में समाता है यही जीवन मृत्यु की छोटी सी कहानी, जो कहीं सुन्दर है तो कहीं भयानक किन्तु है सत्य।

अलम्बुषा—विश्व और विश्वंभर की कथा कहकर मुझे बहकाने की चेष्टा न कीजिये, स्वामी ! देह और देह के नाते विवश करते हैं हृदय को।

दधीचि—उस पक्षी के समान, विश्वंभर हमसे अलग कहाँ, जो अपने पंखों के नीचे अण्डों को दबाये बैठा है। पक्षी ही अण्डों के ऊपर है और पक्षी ही अण्डों के भीतर। फिर तुम दूर कहाँ। हर चिनगारी ज्वाला से निकल ज्वाला में मिलती है, कोई आगे कोई पीछे फिर मिलन निश्चित है।

अलम्बुषा—स्वामी ! चिनगारी का सम्बन्ध चिनगारी से है। वह ज्वाला को क्या जाने।

दधीचि—चिनगारी के तेज को पहिचानने से हृदय को शान्ति अवश्य मिलेगी। देह से देही का नाता अधिक दिनों तक रहेगा प्रिये ! तेज चिरशाश्वत है फिर चिन्ता क्या ?

(बाहर कोलाहल होता है, महात्मा दधीचि की जय लोग बोलते हैं, अलम्बुषा जाकर लौटती है)

अलम्बुषा—स्वामी ! गुरुदेव के साथ समस्त देवगण बाहर उपस्थित हैं, इन्द्र न जाने किस इच्छा से यहाँ आया है।

दधीचि—पागल के साथ पागल बनने से क्या लाभ ? इन्द्र से घृणा करने पर हमारे और उनके अन्तर में वृद्धि ही होगी प्रिये ! अग्नि की शान्ति अग्नि से या ईंधन से नहीं, किन्तु जल से ही सम्भव है। घृणा का उत्तर घृणा से ही

देकर विश्व में यह ज्वाला जल रही है। जाओ ! उन्हें आदर पूर्वक यहाँ ले आओ।

अलम्बुषा—स्वामी ! आप.....

दधीचि—प्रिये ! शत्रु को मित्र रूप में ही देखकर शत्रुता का नाश किया जा सकता है। विचारों में अन्तर होना स्वाभाविक है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि रक्त बहाकर विचारों को एक किया जावे। जाओ प्रिये।

(अलम्बुषा जाती है और सब को लेकर प्रत्यावर्तित होती है)

इन्द्र —महात्मन् ! हम विपत्ति मे हैं। हमारी रक्षा कीजिये ! हम आपकी शरण में है स्वामिन !

दधीचि —इन अस्थियों को छोड़ कर कुछ भी तो नहीं शेष है। यदि ये अस्थियाँ आपके काम आ सकें तो निःसङ्कोच स्वीकार कीजिये। देवेन्द्र ! ये अस्थियाँ आपको सप्रेम समर्पित हैं।

सब—महात्मा दधीचि की जय।

बृहस्पति—वत्स ! इन हड्डियों में सत्य, प्रेम, अहिंसा की अपरिमित शक्ति है, इस शक्ति की समता में संसार की कोई भी शक्ति नहीं ठहर सकती। इन अस्थियों के पीछे 'लोकमत' रूपी बज्र है। जिस ओर तुम्हारी नैतिक शक्ति होगी, विजय भी उधर ही होगी।

दधीचि—किन्तु गुरुदेव !

बृहस्पति —मैं तुम्हारे किन्तु का अर्थ भली भाँति जानता हूँ और इसीलिए देवेन्द्र को तुम्हारे पास लाया हूं। आज देवेन्द्र तुम्हारे द्वार का भिक्षुक मात्र है। वत्स ! यहाँ आकर ये जान गये हैं कि विश्व का कल्याण न देवत्व कर सकता है, न दनुजत्व ही। कर सकता है तो केवल मनुजत्व ही।

दधीचि —परन्तु क्या देवेन्द्र पीछे लौट सकेंगे। मनुष्य बन सकेंगे। एकाधिकार की भावना त्याग सकेंगे। मेरी इन अस्थियों के अपनाने का अर्थ होगा, 'स्वत्व का त्याग'। मेरी हड्डियों से एक ही शस्त्र बनेगा, वह होगी अहिंसा। क्या आप उसे धारण कर सकेंगे। दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का नाश कर मनुष्यता जीवित कर सकेंगे ! क्या संसार को शस्त्र मुक्त कर सकेंगे। बोलिये राजेन्द्र ! आप इस राजमुकुट का त्याग कर सकेंगे, जो आपको नीचे नही देखने देता। सत्य को दुर्गम पथ बनाया है आपने, क्या इसे सरल कर सकेंगे ?

इन्द्र—अधिक लज्जित न कीजिये महात्मन् ? आपके व्यवहार ने मेरी आँखें खोल दी हैं। कण कण में व्यापक कर्ता का रूप देख रहा हूं। आज वृत्र भले ही मुझे

मार डाले किन्तु हृदय में अब शस्त्र उठाने की लालसा नहीं है, और यह लीजिये (राजमुकुट, वस्त्राभूषण एवं शस्त्रादि त्यागते हैं समस्त देवगण भी ऐसा ही करते हैं)

अग्निदेव—महात्मन् ! मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि प्राण रहते सत्य की रक्षा करूंगा। इन अस्थियों के साथ जलूंगा और इनकी रक्षा करूंगा ।

वरुण—मैं भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि जीव रक्षा में ही प्राण दूँगा ।

यमराज—मैं नर्क को सदा के लिये बन्द कर नर्क भय से उत्पन्न पीड़ा का नाश करूँगा ।

कुबेर—मैं भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि राज कोष अब प्रजा के लिये होगा, प्रजा का होगा ।

चित्रसेन—मैं भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरी कला केवल "सत्यं शिवं सुन्दरं" का ही दिग्दर्शन करायेगी ।

बृहस्पति—मैं भी वचन देता हूँ कि साहित्य भी सदा सत्य शिव सुन्दर को ही खोजने में सहायता देगा ।

दधीचि—मैं कृतार्थ हुआ । मैं चलने के लिये प्रस्तुत हूँ किन्तु इतना और कि मेरी इन अस्थियों के साथ जो कोटि कोटि अस्थियाँ जुड़ी हैं वे तबतक तुम्हारी और तुम्हारी सन्तानों की वज्र बनकर रक्षा करेंगी, जबतक आप लोग अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहेंगे । और आप जब अपनी प्रतिज्ञा से हटेंगे तो यह वज्र शिथिल हो जायेगा । बोलो स्वीकार है ।

सब—एवमस्तु ।

दधीचि—चलिये ! परन्तु उठ सकूँ इतनी शक्ति नहीं ।

इन्द्र—आइये मेरे कन्धों पर (इन्द्र दधीचि को कन्धों पर उठाते हैं, दधीचि प्राण त्यागते हैं ।)

(वृत्र आता है)

वृत्र—अभिमानी इन्द्र ! कहाँ जाता है ? परन्तु है ? यह क्या ! महात्मा दधीचि ! तुम्हारी यह दशा । आह ! प्रेम की साकार प्रतिमा तुम्हारा जीवितावस्था में दर्शन न पा सका । मैं ही तुम्हारी मृत्यु का कारण बना । इस पापी शरीर को रखकर ही क्या होगा मार डाल । पापी इन्द्र ! मुझे भी मार डाल । खूनी ! हत्यारे ! नृशंस !

इन्द्र—भाई वृत्र ! तुम मुझे मार डालो । मेरा स्वार्थ ही इनकी मृत्यु का कारण है, मैं हीं जीकर क्या करूंगा । मेरे ही स्वार्थों पर महामानव बलिदान हो गया ।

वृत्र—इन्द्र ! मेरा कार्य समाप्त हो गया । तुम्हारा अभिमान मिट गया । तुमने

मनुष्यता को पहचान लिया। अब मुझे जीवन की कोई लालसा नहीं। जीवन में जिसका साथ न दे सका, मृत्यु में उसका साथ दूँगा परन्तु, एक बात, केवल एक बात कहूँगा। जो लोकमतरूपी वज्र तुम्हें, इस महाप्राण ने प्राण देकर दिया है, उसकी प्राण देकर भी रक्षा करना। इसकी रक्षा, सत्य, दया, क्षमा, अहिंसा, संयम व अक्रोध से ही हो सकेगा। अच्छा विदा.....महात्मा..... द.....धी.....चि.....की ज.....य.....

(दधीचि का शव वृत्र के कन्धों तक लटक आता है)

बृहस्पति—बेटा दधीचि ! जो कार्य तुम जीवन में न कर सके, वह कार्य तुम्हारी मृत्यु ने कर दिया। तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हुई, युगों से भड़कती ज्वाला शान्त हुई। देव और दानवों के बीच पड़ी खाई तुम्हारी अस्थियों से पट गई।

(सब देवता धीरे धीरे शोकाकुल खड़े होते हैं और यवनिका पतन होता है)

❀ अस्थिदान सम्पूर्ण ❀

॥ सत्यं शिवं सुन्दरम् ॥

समर्पित

★

इस अमर दधीचि को। जिसे, मारने की चेष्टा में प्रत्येक द्वंद्ववादी देवता रत है, किन्तु, जो आज भी अपनी अस्थियों से समाज की रक्षा कर रहा है तथा जो आज भी जाड़े में नंगा और गर्मी में भूखा सो रहता है।

—दुखित